स्थायी समाज-व्यवस्था

जो. कॉ. कुमारप्पा

र्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

BANGALORE
TATTVA PRACHAR CENTRE BANGALORE
X0ay
152N58
M.00325

शीघ्र ही वह समय आयगा—सच पूछिये, तो आने लगा है—जब न केवल नौकरों द्वारा परोसा गया विविध व्यंजनोंवाला भोजन खाना लज्जाप्रद और अपमानजनक समझा जायगा, बल्कि जिस भोजन को स्वयं मेजबानों ने अपने हाथ से न बनाया हो, उसे ग्रहण करना भी समान रूप से लज्जाप्रद और अपमानजनक होगा। जब कि पैरों से काम लिया जा सकता है, तो तेज घोड़ोंवाली बग्घी की बात तो दूर रही, एक साधारण घोड़ा-गाड़ी में घूमना भी लज्जाजनक होगा। काम के दिनों में ऐसे कपड़े, जूते या दस्ताने पहनना, जिनसे काम न हो सके अथवा अधिक या कम कीमत का ऐसा पियानो बजाना, जिसके लिए दूसरे अजनबी व्यक्तियों को परिश्रम करना पड़े; कुत्ते को दूध और डबलरोटी खिलाना, जब कि ऐसे भी आदमी हैं, जिन्हें दूध और साधारण रोटी मयस्सर नहीं; और मोमबत्तियाँ या स्टोव जलाना, जब कि दूसरों के पास आग या प्रकाश का अभाव है, ये सब कार्य लज्जास्पद हो जायँगे। ऐसी विचारधारा की ओर हम अनिवार्य रूप से और तेजी से बढ़ रहे हैं। हम एक नये जीवन के किनारे पर आ खड़े हुए हैं। इस नये जीवन को संस्थापित करना जनमत का कार्य है और इस प्रकार का जनमत तेजी से बनता जा रहा है।

—टॉल्स्टाय

TATTVA PRACHAR CENTRE
BANGALORE

000325

TATTVA PRACHAR CENTRE
BANGALORE

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
DATE.....................
ACC. NO.....................
CALL NO.....................
BANGALORE-1.

WORKS OF GANDHIJI IN KANNADA
OFFICE LIBRARY
Acc. No. ......672......
Date...19-2-1e...1958 CHIEF EDITOR.

स्थायी समाज-व्यवस्था

[अहिंसा पर आधारित समाज-व्यवस्था की खोज]

000325

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
DATE........................
ACC No. 9849
CALL No........................
BANGALORE-1.

जो० कॉ० कुमारप्पा

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
रा ज घा ट, का शी

प्रकाशक :
अ० वा० सहस्रबुद्धे,
मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ,
वर्धा (बम्बई-राज्य)

...I SMARAKA GRANTHALAYA
DATE.........
Acc. No.........
CALL No.........
BANGALORE-1.

यह किताब हाथ-कागज
पर छपी है।

H·000325
X0ay
152 N58;1

दूसरी बार : ३,०००
जनवरी, १९५८
मूल्य : ढाई रुपया

मुद्रक :
ओमप्रकाश कपूर,
ज्ञानमण्डल लिमिटेड,
वाराणसी (बनारस) ५२४१-१४

टेलीफोन ४१ . सेवाग्राम, वर्धा

000325

गांधीजी के दो शब्द

अपनी पुस्तक 'ईसा के उपदेश और उनका आचरण' की तरह डॉ० कुमारप्पा ने यह किताब भी जेल में ही लिखी है। यह पहली पुस्तक जैसी समझने में आसान नहीं है। इसका पूरा मतलब समझ में आने के लिए इसे कम-से-कम दो या तीन बार ध्यानपूर्वक पढ़ जाना चाहिए। जब मैंने इसकी हस्त-लिखित प्रति पढ़नी शुरू की, तब मुझे कुतूहल था कि आखिर इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय क्या होगा। पर प्रारम्भिक प्रकरण से ही मुझे सन्तोष हुआ और मैं उसे अन्त तक पढ़ गया। ऐसा करने में मुझे कोई थकावट नहीं मालूम पड़ी, प्रत्युत कुछ फायदा ही हुआ। ग्रामोद्योगों के इस डॉक्टर ने इस प्रबन्ध द्वारा यह बतलाया है कि इन उद्योगों द्वारा ही देश की क्षणभंगुर मौजूदा समाज-व्यवस्था को हटाकर स्थायी समाज-व्यवस्था कायम की जा सकेगी। उन्होंने इस सवाल को हल करने की कोशिश की है कि क्या मनुष्य का शरीर उसकी आत्मा से श्रेष्ठ है या उसकी आत्मा नाशवान् शरीर से श्रेष्ठ है और वह अमर आत्मा शरीर की चन्द भौतिक आवश्यकताएँ योग्य रीति से पूरी कराकर उसी नाशवान् शरीर के द्वारा, जो उसके उद्देश्य की पूर्ति के लिए मुक्त है, प्रकट होता है? दूसरे शब्दों में इसीको 'सादा रहन-सहन और ऊँचे विचार' कह सकते हैं।

रेल में (बम्बई जाते हुए)
२०-८-'४५

मो. क. गांधी

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
DATE..................
ACC. NO..................
CALL NO..................
BANGALORE-1.

प्रस्तावना

पहले संस्करण से

मेरी **'गाँव-आंदोलन क्यों ?'** नामक पूर्व पुस्तक में हिन्दुस्तान की सामाजिक व्यवस्था की पश्चिम के प्रधान देशों की सामाजिक व्यवस्थाओं से तुलना की गयी है। इस पुस्तक में हिन्दुस्तान के लोगों के स्वभाव-विशेष के लिए कौनसी समाज-व्यवस्था अनुकूल होगी, यह दिखाने की कोशिश की गयी है।

आज के धर्म में कर्मकाण्ड और बाह्य आडम्बरों की भरमार है। उसका मनुष्य के दैनिक जीवन पर का असर नष्ट हो गया है। इसलिए आजकल कई लोग धर्म में विश्वास नहीं रखते और उसे मूढ़ विश्वास समझकर उससे दो हाथ दूर ही रहना पसन्द करते हैं। इस प्रकार धर्म का दैनिक जीवन से कोई सम्बन्ध न रहने से अर्थशास्त्र में भी नैतिक मूल्यों का खयाल रखना चाहिए, यह बात दृष्टि से ओझल हो गयी है और केवल रुपया, आना, पाई का ही विचार उसमें रह गया है। पुराने ज्ञान-भाण्डार को धर्म, समाज-विज्ञान, अर्थशास्त्र आदि एक-दूसरे से भिन्न हिस्सों में बाँट दिया गया है। परिणामतः मनुष्य भी विभिन्न हिस्सों में बँट गया है; यहाँ तक कि उसका बायाँ हाथ दाहिने हाथ का कार्य नहीं जानता। पर कुदरत ऐसा कोई भेद नहीं मानती। उसके लिए तो सारी जीव-सृष्टि एक है। इसलिए इस छोटी-सी किताब में यह दिखाने की कोशिश की गयी है कि विभिन्न हिस्सों के मूलभूत तत्त्वों को मनुष्य के दैनिक समूचे जीवन में किस तरह लागू किया जाय।

इस पुस्तक के लिखने का खास मकसद यही है कि पुराने धर्म और नीति की कल्पनाएँ मनुष्य-जीवन पर फिर से लागू की जायँ, ताकि हमारे

दैनंदिन व्यवहारों में भी कुछ ऊँचा अर्थ रह सकता है, यह हम महसूस करें। और हममें से जो लोग धर्म में इसलिए विश्वास नहीं करते कि उसमें केवल परलोक का ही जिक्र रहता है, उनके लिए भी यह दिखाया जाय कि उनकी दुनिया की हस्ती में कुछ खास मकसद है। इसमें हर पेशे के मनुष्य का प्रकृति से कैसे सम्बन्ध आता है, यह दिखाया गया है। जिसको धार्मिक लोग 'चिरंतन जीवन', 'आत्मसुख' या 'साक्षात्कार' कहते हैं, उसे मनुष्य के दैनंदिन जीवन की दृष्टि से स्थायी समाज-व्यवस्था कह सकते हैं और वही नाम इस पुस्तक को दिया गया है।

यह एक बिलकुल नया ही दृष्टिकोण है, इसमें कोई शंका नहीं। पर इसमें जिस ध्येय का प्रतिपादन किया है, उसे प्राप्त करने के लिए यदि लोगों को इसने प्रवृत्त किया, तो कह सकते हैं कि इस पुस्तक का उद्देश्य बहुत कुछ सफल हुआ।

यह प्रथम भाग मैंने जबलपुर सेण्ट्रल जेल में लिखा था और दूसरा भाग लिख सकने के पूर्व ही मैं तबीयत बिगड़ जाने के कारण छोड़ दिया गया। अहिंसाप्रधान दृष्टिवाले रचनात्मक कार्यकर्ताओं के निर्माण करने की सख्त जरूरत समझकर इस प्रथम भाग का अंग्रेजी संस्करण सन् १९४५ में ही प्रकाशित कर दिया गया और दूसरा भाग तैयार होने पर प्रकाशित करने का तय किया। अब वह भी छप गया है।

गांधीजी ने इस पुस्तक के लिए दो शब्द लिखे और उसे पढ़कर उन्होंने सूचनाएँ कीं, इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

चित्रकार श्री माधव सातवळेकर ने कई चीजों को स्पष्ट करने के लिए उपयुक्त चित्र बना दिये हैं, इसके लिए मैं उनका भी कृतज्ञ हूँ।

सन् १९४८ में इसका अंग्रेजी का दूसरा संस्करण निकला और उसीके साथ इसका दूसरा भाग भी प्रकाशित हुआ। उसमें मनुष्य का समाज में कैसा बर्ताव होना चाहिए, यह दिखाया गया है। स्वतन्त्र रूप से यह भाग देश का अहिंसक रीति से उत्थान कैसे किया जाय, इसकी एक योजना ही समझिये। इसमें नियोजन, कृषि, ग्राम-उद्योग, विनिमय,

प्रजातन्त्र, राज्य और बड़े उद्योगों का सम्बन्ध, एकाधिकार (Monopolies), प्राकृतिक साधन आदि बातों पर विचार किया गया है।

आशा की जाती है कि मनुष्य समाज में रहकर किस प्रकार अहिंसा और शान्ति की ओर अग्रसर हो सकता है, इसका पूरा खाका इस दूसरे भाग से स्पष्ट हो जायगा।

हमें खुशी है कि बहुत दिनों की कोशिश के बाद हम इस समय पहले भाग का हिन्दी संस्करण प्रकाशित कर सके हैं। दूसरे भाग का हिन्दी संस्करण भी शीघ्र ही प्रकाशित करने की उम्मीद है।

मगनवाड़ी, वर्धा
४-१-'४८

जो० कॉ० कुमारप्पा

यह संस्करण

यह प्रथम संस्करण का केवल पुनर्मुद्रण है।

कल्लूपट्टी (दक्षिण भारत)
९-१-'५८

जो० कॉ० कुमारप्पा

अनुक्रम

(पहला भाग)

गांधीजी के दो शब्द ... ३
प्रस्तावना ... ४
प्रारम्भिक ... ११

खण्ड १ : कुदरत

१. कुदरत ... १३
२. कुदरत का काम और उसकी मजदूरी ... १५
३. कुदरत में मौजूद व्यवस्थाएँ ... १७

खण्ड २ : मनुष्य—एक व्यक्ति

४. मनुष्य और इच्छास्वातन्त्र्य ... २२
५. अपनी बुद्धि का सदुपयोग या दुरुपयोग ... २५
६. मानवीय विकास की मंजिलें—व्यक्ति ... ३१
७. मानवीय विकास की मंजिलें—समूह या राष्ट्र ... ३९
८. मूल्यों के पैमाने ... ४५
९. मूल्यांकन ... ५५
१०. जीवन का असली मकसद ... ६८
११. जीवन के पैमाने ... ८९
१२. काम ... १०८
१३. श्रम-विभाग ... ११५

(दूसरा भाग)

प्रस्तावना	...	१३५
१. योजना की आवश्यकता और उसका स्वरूप	...	१३९
२. खेती	...	१४६
३. विनिमय	...	१५२
४. सहकारिता	...	१५४
५. ग्राम-उद्योग	...	१६१
६. प्रजातंत्र	...	१७०
७. राष्ट्रीय उद्योग	...	१७९
८. सरकार के कार्य	...	१८४
९. जीवन-शिक्षण	...	१८९
१०. सामाजिक जीवन	...	२०२
११. एक आदर्श योजना	...	२१३

स्थायी समाज-व्यवस्था

(पहला भाग)

प्रारम्भिक

कौन चीज स्थायी और कौन चीज क्षणभंगुर है ?

ईश्वर के अलावा ऐसा कुछ नहीं है, जिसे स्थायी कहा जाय। वही एक ऐसा है, जिसका न तो प्रारम्भ है और न अन्त। मानव-बुद्धि सीमित है; इसलिए इसे पूर्णतः यह समझना असम्भव है कि कौन वस्तु निरपेक्ष अर्थ में चिरस्थायी है। इस प्रकार की कल्पना काल और स्थान से परे स्थिति की ओर संकेत करती है। ईश्वर, सत्य और प्रेम के नियम पूर्ण हैं तथा ये अक्षरशः अपरिवर्तित और स्थायी हैं।

काल और स्थान की सीमा के अन्तर्गत निरपेक्ष स्थायित्व ऐसी कोई चीज नहीं है। प्रत्येक वस्तु का कहीं प्रारम्भ और किसी समय अन्त होता है। इन दो क्षणों के बीच की अवधि बदलती रहती है। कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में यह अवधि थोड़ी और कुछ के विषय में बड़ी है। एक फल सबेरे खिलता है और सन्ध्या तक मुरझा जाता और समाप्त हो जाता है। इसकी आयु कुछ ही घण्टों की है। कछुओं के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वह सैकड़ों वर्ष जीवित रहता है तथा अपने विश्व की आयु लाखों वर्ष की मानी जायगी। अतः फूल की तुलना में कछुआ दीर्घजीवी तथा विश्व स्थायी है। ये सब सापेक्ष शब्द हैं।

प्रकृति (जब इसे ईश्वर का पर्याय न समझा जाय) काल और स्थान द्वारा सीमित है। इसका आविर्भाव कभी बहुत पूर्व अतीत में हुआ और अन्त भी कभी भविष्य में होगा। मनुष्य की उम्र मुश्किल से १०० वर्ष हो पाती है, किन्तु प्रकृति की आयु की गणना ज्योतिष अंकों की इकाइयों में होगी। अतः मानव-जीवन तुलनात्मक दृष्टि से क्षणिक और प्रकृति का जीवन स्थायी कहा जाता है। अतः हम इसी सापेक्ष अर्थ में 'स्थायी समाज-व्यवस्था' की बात कहते हैं।

खण्ड १

कुदरत

कुदरत : १ :

कुदरत में ऐसी कुछ चीजें हैं, जिनमें प्रत्यक्ष रूप से कोई जान नहीं दिखाई देती और जो बढ़ती नहीं हैं, इसलिए इस्तेमाल किये जाने पर वे खतम हो जाती हैं। दुनिया में ऐसी कुछ चीजों का संग्रह है, जैसे—कोयला, पेट्रोल, लोहा, ताँबा, सोना आदि। इनकी मात्रा सीमित होने से इन्हें हम 'क्षण-भंगुर' कह सकते हैं। पर नदी का बाढ़युक्त पानी या किसी जंगल की प्रतिक्षण बढ़नेवाली इमारती लकड़ी, इनको हम स्थायी कह सकते हैं, क्योंकि यदि मनुष्य बाढ़ का पानी या बढ़ती हुई इमारती लकड़ी ही इस्तेमाल करे, तो ये चीजें कभी समाप्त नहीं हो सकतीं।

सजीव प्राणियों में जीवन के निश्चित चक्र के कारण कुदरत का स्थायित्व प्रतीत होता है। इस जीवन-चक्र की बदौलत विभिन्न कारणों के निकट सहयोग से अलग-अलग जीवों की हस्ती कायम है। गेहूँ के पौधे पर से एक दाना जमीन पर टपक पड़ता है। वह जमीन में मिल जाता है, वहाँ अपनी जड़ें छोड़ता है और उनके द्वारा सर्दी और धूप की मार्फत खुराक खींचता रहता है। समय पाकर इस क्रिया की बदौलत वह अंकुरित होता है। अंकुर में पत्ते निकलते हैं और जिस प्रकार जड़ें जमीन में से खुराक चूसती हैं, उसी प्रकार ये पत्तियाँ वायु और धूप में से खुराक इकट्ठी करती हैं। जब इनमें की कुछ पत्तियाँ 'मर' जाती हैं, तब वे जमीन पर गिर जाती हैं और वे सड़कर जमीन में वे द्रव्य पैदा करती हैं, जो उस पौधे ने जमीन, धूप और हवा में से प्राप्त किये थे। इन्हीं द्रव्यों का फिर पौधे की दूसरी पीढ़ी के लिए उपयोग होता है। मधुमक्खियाँ आदि जब अपनी आवश्यकता के

लिए फलों से शहद और पराग इकट्ठा करती हैं, तब वे फूलों पर परागसिंचन करती हैं और फलतः जो दाने बनते हैं, वे उन्हीं पौधों की दूसरी पीढ़ी के जनक बन जाते हैं। जब ये दाने पक जाते हैं, तब जमीन पहली पीढ़ी की झड़ी हुई पत्तियों के सड़ने से पहले से ही समृद्ध बनी हुई रहती है; इसलिए उस दाने का पौधा बड़ी आसानी से तैयार होता है। इस प्रकार नयी पीढ़ी का जीवन-चक्र शुरू हो जाता है। कुदरत का काम इस तरह अखंड रीति से चलता रहता है, इसलिए इसे शाश्वत मानते हैं। ● ● ●

कुदरत का काम और उसकी मजदूरी : २ :

प्रकृति का काम सजीव और निर्जीव पदार्थों के सहयोग से जीवन-चक्र को अक्षुण्ण बनाये रखना है। यदि यह चक्र कभी भी, कहीं भी ज्ञानपूर्वक या अज्ञान से टूट जाय, तो हिंसा निर्माण होती है। इस प्रकार जब हिंसा रास्ता रोक देती है, तब प्रगति रुक जाती है और अन्त में विनाश और नुकसान हो जाता है। कुदरत बड़ी कठोर और क्षमा न करनेवाली है। इसलिए आत्मसंरक्षण और स्वार्थ का तकाजा है कि यदि जीवन-चक्र में खलल न पहुँचाकर और उसे पूरा करने में नजदीक का रास्ता ढूँढ़ने की कोशिश न कर हमें जीवन में शाश्वतता निर्माण करनी हो, तो सम्पूर्ण अहिंसा, सहयोग और कुदरत के मार्गों का अवलम्ब किया जाना चाहिए।

सजीव प्राणियों को भी यदि जिन्दा रहना हो, तो कुदरत के इन्हीं नियमों का पालन करना ही पड़ता है। जमीन में केंचुओं के इधर-उधर घूमते रहने से जमीन कुछ ढीली हो जाती है, जिससे उसमें अधिक हवा और पानी प्रवेश पा सकते हैं। वे वनस्पति द्रव्ययुक्त मिट्टी खाते हैं और उनके पेट में वे सारे द्रव्य अच्छी तरह हजम होकर उनकी विष्ठा द्वारा खेतों को ही मिल जाते हैं। इससे पौधे उस खेत में से अपनी खुराक आसानी से खींच सकते हैं।* यह जमीन, पौधा और सजीव प्राणी के बीच सहयोग का एक नमूनेदार उदाहरण है। मधुमक्खियों और तितलियों द्वारा फूलों पर परागसिंचन करने का उदाहरण तो हम पहले ही दे चुके हैं।

* सेंद्रिय खादों के बदले जब हम रासायनिक खाद देते हैं, तो कुछ समय के लिए तो जमीन से अच्छी फसल मिलती है; पर बार-बार यही खाद देते रहने से जमीन में के केंचुए मर जाते हैं, क्योंकि वे इसे नहीं खा सकते। उनके मर जाने से जमीन भारी हो जाती है और अंत में उपजाऊपन खो देती है। कुदरत के जीवन-चक्र में सेंद्रिय या वानस्पतिक खादों के त्याग से खलल पैदा हो गया; इसलिए शाश्वत व्यवस्था की जगह, मनुष्यनिर्मित क्षणभंगुर व्यवस्था ले लेती है।

इस प्रकार की सेवा या 'काम' के लिए काम करनेवाली इकाई को कुदरत से खुराक मिलती है। इस प्रकार अपनी व्यवस्था कायम करने के लिए कुदरत को सजीव या निर्जीव किसी भी घटक से, चाहे वह हवा में, जमीन का या पानी में रहनेवाला हो, जो सहयोग और सहकार्य मिलता है, वह उसकी मजदूरी उसे खुराक के रूप में अदा कर देती है।

वनस्पतियाँ अचल हैं, इसलिए उनके बीज उनकी झाड़ के नीचे या उनके आसपास ही गिर सकते हैं। यदि मूल झाड़ के इर्दगिर्द सारे बीज उगेंगे, तो एक भी झाड़ पनप न सकेगा। इसलिए इन बीजों को तितर-बितर करना जरूरी है। इसके लिए कुदरत पक्षी और जानवर आदि से काम लेती है। यहाँ चल जीव एक खास काम करता है। पक्षी किसी झाड़ का फल खाकर शायद उससे मीलों दूर जाये और वहाँ अपनी बीट द्वारा उस झाड़ के बीज छोड़े। सहयोग का यह काम पक्षी किसी पर एहसान करने के लिए नहीं, बल्कि अपने स्वाभाविक तौर पर करता है। वह भूख लगने पर फल खाता है और टट्टी लगने पर बीट छोड़ता है। इस प्रकार अपनी प्राथमिक हाजतें पूरी करते हुए वह कुदरत का जीवन-चक्र कायम करने में हाथ बँटाता है।

इस प्रकार कुदरत अपने हरएक घटक का सहयोग पूरी तौर से प्राप्त करती है। हरएक घटक अपने लिए ही काम करते हुए दूसरे को भी फायदा पहुँचाता रहता है—चल अचल को और सजीव निर्जीव को। इस पर से हम देखते हैं कि कुदरत के सारे काम किसी एक खास मकसद के लिए होते हैं। कोई भी चीज स्वतंत्र रूप से अपनी हस्ती कायम नहीं रख सकती। उसे कुदरत की दूसरी चीजों से सहयोग करना ही पड़ेगा। जब यह सहयोग एकात्मभाव से होता है और कहीं संघर्ष या हिंसा नहीं निर्माण होती, तब शाश्वत या स्थायी व्यवस्था निर्माण हुई, ऐसा कह सकते हैं। ● ● ●

कुदरत में मौजूद व्यवस्थाएँ : ३ :

इस किस्म का अहिंसक सहयोग हरएक किस्म की चीजों में हमेशा नहीं रहता। कुछ इकाइयाँ तमाम कुदरती परिस्थितियों में से न गुजरकर तथा स्वाभाविक तौर पर कुदरत की चीजों से मिलनेवाली खुराक पर सन्तुष्ट न रहकर कुदरत के लम्बे रास्ते को छोड़कर बीच का मार्ग ढूँढ़ने की फिराक में अपने ही पड़ोसी जीवों का शिकार करती हैं। इसलिए हिंसा निर्माण होती है और उनका विनाश निश्चित ही रहता है।

१. परोपजीवी व्यवस्था—कुछ पौधे दूसरे पौधों पर बढ़ते हैं और इस प्रकार परोपजीवी बनते हैं। कुछ अर्से के बाद मूल झाड़, उस पर उगनेवाले दूसरे झाड़ की बदौलत, सूखने लगता है और अन्त में मर जाता है। इससे भी हिंसा निर्माण होती है और विनाश निश्चित ही है। जानवरों में हम यदि देखें, तो बेचारी गरीब भेड़ घास खाती है, पानी पीती है और इस प्रकार अपनी जिन्दगी बसर करती है। पर एक शेर कुदरत का

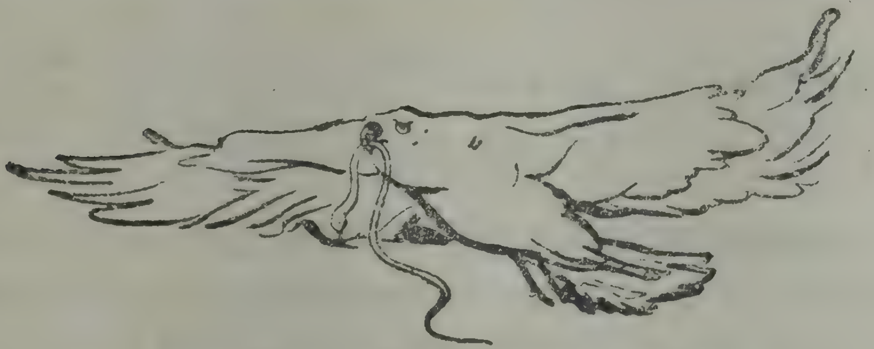

चित्र नं० १. दूसरे प्राणियों पर गुजर करनेवाला पक्षी

रास्ता छोड़कर बीच का ही मार्ग निकालता है; याने वह भेड़ को मारकर उस पर अपनी गुजर-बसर करता है। इस प्रकार वह हिंसा को अपने

जीवन में प्रमुख स्थान देता है और उसी पर अपनी जिंदगी अवलंबित रखता है। यहाँ हिंसा शेर के जीवन का प्रधान अंग बनती है।

२. आक्रामक व्यवस्था—जब कुदरत की एक इकाई दूसरी किसी इकाई को फायदा पहुँचाये बिना खुद फायदा उठाती है, तब वह आक्रामक कहलाती है। एक बंदर किसी आम के बगीचे में पहुँचता है। उस बगीचे के बनाने में उसका कोई हाथ नहीं होता—न वह जमीन खोदता है, न झाड़ लगाता है और न पानी ही देता है,—पर उस बगीचे के आम वह खाता है।

चित्र नं० २. जिन भुट्टों के उपजाने में उनका तनिक भी सहयोग नहीं, उन्हें खानेवाले पक्षी

अपनी भूख का शमन करने के लिए ही वह ऐसा करता है, यह बात सही है, पर वह उसके बदले बगीचे को या और किसीको कुछ नहीं देता। इस व्यवस्था में पहली व्यवस्था से हिंसा का परिमाण कम है सही, पर उसमें विनाश भी निहित ही है।

३. पुरुषार्थयुक्त व्यवस्था—कुछ प्राणी दूसरी इकाइयों से कुछ फायदा उठाते हैं, पर ऐसा करते हुए वे उन इकाइयों को कुछ निश्चित

फायदा भी पहुँचाते हैं; और इस प्रकार अपने पुरुषार्थ या मेहनत से जो चीज बनती है, उसका उपभोग वे करते हैं।

चित्र नं० ३. खुद बनाया हुआ घोसला पक्षी इस्तेमाल कर रहा है।

मिसाल के तौर पर शहद की मक्खियों को लीजिये। वे फूलों से पराग और शहद इकट्ठा करती हैं और उसे स्वंयम् निर्माण किये हुए मोम के बने छत्तों में भरकर रखती हैं और पकाती हैं। इन्हें परोपजीवी तो नहीं कह सकते, क्योंकि वे जिन फूलों से फायदा उठाती हैं, उन्हें मार डालने के बजाय फायदा भी पहुँचाती हैं। उन्हें आक्रामक भी नहीं कह सकते, क्योंकि वे वही शहद खाती हैं, जिसे उन्होंने स्वयं मेहनत कर इकट्ठा किया और पकाया। वे अपने स्वभावजन्य ही क्यों न हो—पुरुषार्थ पर ही जीती हैं। वे स्वतन्त्र रूप से नयी चीज निर्माण करनेवाली इकाई हैं।

४. समूहप्रधान व्यवस्था—जाते-जाते यह भी बता देना अनुचित

न होगा कि शहद की मक्खियाँ जो काम करती हैं, वे अपने समूचे कुनबे के लिए करती हैं; हरएक मक्खी खुद के लिए कुछ नहीं करती। अर्थात्

चित्र नं० ४. मधुमक्खियाँ समूचे कुनबे के लिए शहद इकट्ठा करती हैं।

उनके स्वार्थ का दायरा जरा विस्तृत हो गया। वे हमेशा जो कुछ करती हैं, अपने पूरे समूह को मद्देनजर रखकर करती हैं और केवल निकट भविष्य की जरूरतों का खयाल रखकर करती हैं।

५. सेवाप्रधान व्यवस्था—कुदरत की तमाम व्यवस्थाओं में सेवा-प्रधान व्यवस्था आला दर्जे की व्यवस्था है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण बच्चा और उसके माँ-बाप हैं। एक पक्षी के बच्चे की माँ तमाम जंगल ढूँढ़कर अपने बच्चे के लिए चारा लाती है, अपनी जान खतरे में डालकर भी दुश्मन के हमले से उसे बचाती है। वह न तो निकट भविष्य की और न सुदूर भविष्य की निजी जरूरतों का विचार करती है। वह तो आगामी पीढ़ी या पीढ़ियों के हित की दृष्टि से, बिना किसी मुआवजे की अपेक्षा किये, काम करती रहती है। अपने मातृ-प्रेम के कारण वह निःस्वार्थ भाव से, निजी फायदे का कोई खयाल न रखकर काम करती चली जाती है। यह

व्यवस्था अहिंसा-प्रधान स्थायी व्यवस्था के निकटतम है, ऐसा माना जा सकता है।

चित्र नं० ५. बिना किसी मुआवजे की अपेक्षा किये मादा (पक्षी) बच्चों को चारा खिला रही है।

ये पाँचों शुद्ध प्रकार उत्तरोत्तर अधिकाधिक स्थायित्व और अहिंसा के क्रम से यहाँ दर्शाये गये हैं।

इन पाँच सादी किस्मों में से अन्य कई मिश्र किस्में बनायी जा सकती हैं।

● ● ●

खण्ड २

मनुष्य—एक व्यक्ति

मनुष्य और इच्छास्वातन्त्र्य : ४ :

कुदरत की व्यवस्था कायम रखने या बिगाड़ने की कूवत अकेले मनुष्य में ही है; इसलिए हमारे अध्ययन के लिए हमें कुदरत के अन्य प्राणियों की व्यवस्था में न जाकर केवल मनुष्य की व्यवस्थाएँ ही काफी हैं। यों तो कुदरत की व्यवस्था में खलल डालना आसान नहीं है, परन्तु कुछ समय के लिए ही क्यों न हो, मनुष्य उस व्यवस्था में कुछ उथल-पुथल जरूर मचाता है—जैसा कि पिछले दो विश्वव्यापी युद्धों द्वारा हुआ। गहरे अभ्यास द्वारा सम्भव है कि हम कुदरत के तरीकों से गाढ़ा सहयोग स्थापित कर सकें और इस प्रकार अनावश्यक हिंसा टालकर, हम ज्ञानपूर्वक स्थायी व्यवस्था कायम करने में शायद कामयाबी हासिल न कर सके, तो भी उसे प्राप्त करने में प्रयत्नशील होने का समाधान हमें मिलेगा और साथ-ही-साथ हम लोगों के लिए अधिक सुख निर्माण कर सकेंगे।

अन्य सब प्राणी मुस्तैदी से कुदरत के नियमों का पालन करते हैं। उन्हें अपनी 'इच्छा' को कार्यान्वित करने की विशेष गुंजाइश नहीं है। वे अपने जन्मजात स्वभाव के अनुसार काम करते हैं, जो हमेशा कुदरत के अनुकूल ही होते हैं। उनके जीवन का रास्ता रेलगाड़ी के समान है। जानवरों के जन्मजात स्वभाव के मुताबिक रेल की पटरियाँ रेलगाड़ी को ठीक रास्ते से ले जाती हैं। जब तक रेलगाड़ी पटरियों पर है, तब तक वह बिना खौफ, चाहे दिन हो या रात, चाहे पहाड़ हो या दर्रा, चाहे जंगल हो या मैदान, यदि चलती रहे, तो उसको दिशा-दर्शन किये बगैर वह अपने मुकाम पर पहुँच ही जायगी।

अण्डे में से बाहर निकलते ही बच्चा इधर-उधर घूमकर अपने पोषण-योग्य अनाज के दाने चुगने लगता है। जब उसका पेट भर जाता है, तब वह अपनी माँ के पंखों की छाया में आराम करता है। खतरे की जानकारी उसे आप-ही-आप होती है और वह सुरक्षित जगह में छिप जाता है। वह कभी भूख से अधिक नहीं खाता, चाहे खुराक कितनी भी जायकेदार क्यों न हो, और न वह कभी इन्द्रियों की लिप्सा शमन करने की कोशिश करता है। उसका सारा काम उसके जन्मजात स्वभाव से ही होता है, वह ज्ञानपूर्वक उसे नहीं करता।

जो प्राणी कुदरत के नियम मुस्तैदी से पालते हैं, वे शायद ही कभी बीमार पड़ते हों और जब कभी उन्हें हाजमे की शिकायत होती है, तो वे जन्मजात स्वभाव से ही ऐसे जाने हुए पौधे खा लेते हैं, जिससे या तो कै होकर या दस्त आकर वे तन्दुरुस्त हो जाते हैं।

मनुष्य की निस्बत मुश्किल यह है कि उसे 'स्वतन्त्र बुद्धि' होती है और उसका उपयोग करने के लिए उसे विशाल क्षेत्र मौजूद है। यदि उस 'स्वतन्त्र बुद्धि' का योग्य दिशा में उपयोग किया जाय, तो वह ज्ञानपूर्वक कुदरत की इकाइयों में अधिक सहयोग निर्माण कर सकेगा। इसके विपरीत यदि ऊटपटांग रीति से 'स्वतन्त्र बुद्धि' का उपयोग किया जाय, तो वह कुदरत की व्यवस्था में काफी खलबली मचाकर अन्त में नष्ट हो जायगा।

ऊपर हमने जन्मजात स्वभाव की रेल की पटरियों से तुलना की है। जब तक रेल के डब्बे पटरियों पर हैं, तब तक वे पटरियाँ डब्बों को कभी इधर-उधर भटकने नहीं देतीं। पर 'स्वतन्त्र बुद्धि' की देन में चाहे जहाँ भटक सकने की गुंजाइश है। पर इस गुंजाइश का यह मतलब नहीं कि हर जगह का भटकना खतरे से खाली ही होगा। 'स्वतन्त्र बुद्धि' की तुलना साइकिल की सवारी से की जा सकती है। सिद्धान्त रूप से साइकिल का सवार चाहे जिधर आजादी से जा सकता है। उसका दिशा-दर्शक याने हैंडल उसके काबू में ही रहता है। फिर भी उसके भटकने के ऊपर उसका निजी विवेक और उसकी साइकिल की रचना, इनकी मर्यादाएँ रहती ही

हैं। यदि सवार चाहे कि मैं हवा में उड़ूँ या पानी पर तैरूँ, तो वह वैसा नहीं कर सकता। जमीन पर भी वह जहाँ चाहे नहीं जा सकता। उसे तो दूसरे लोगों के कायम किये हुए रास्ते या पगडण्डी से ही जाना होगा। यदि वह हल-चले खेत में से जाने की कोशिश करे, तो सम्भव है कि उसका अगला चक्र मिट्टी या हलकी लीक में फँस जाय और सवार साइकिल के नीचे आ जाय। यदि वह काँटे के झाड़ों में से जाना चाहे, तो उसकी साइकिल के टायर पंक्चर हो जायेंगे। इस प्रकार उसकी सैद्धान्तिक आजादी को मर्यादाएँ लग जाती हैं और बुद्धिमान् सवार उन्हींके अन्दर-अन्दर रहता है। उसकी हलचलों पर इस प्रकार ज्ञानपूर्वक अंकुश रख सकने के लिए अनुशासन और ज्ञान की जरूरत है। उनके बिना जो यन्त्र उसकी सुविधा के लिए बनाया गया है, वह उसे दुःखदायी साबित होगा। जो आदमी दिन के समय, जाने हुए रास्ते से, साइकिल पर सवार होकर निकलेगा, वह पैदल गति से कई गुनी अधिक गति प्राप्त कर सकेगा।

उसी प्रकार केवल जन्मजात स्वभाव से प्रेरित प्राणियों की बनिस्बत स्वतंत्र बुद्धियुक्त मनुष्य बहुत कुछ अधिक काम कर सकेगा, बशर्ते कि वह अपनी उस बुद्धि का विवेक से काम लेना सीखे, न कि उसे अपनी इच्छाओं और लालसाओं की तृप्ति के पीछे भटकने दे। वह अपने आंतरिक प्रकाश के सहारे—याने अपने बुद्धि और दैवी अंश के संयोग से—या तो सिद्धि या विनाश की ओर ज्ञानपूर्वक अग्रसर हो सकता है। जिस प्रकार साइकिल-सवार यदि अँधेरे में या ऊबड़-खाबड़ जमीन पर चल पड़े, तो गिर पड़ेगा और शायद चोट भी खायेगा, उसी प्रकार यदि मनुष्य भी उपर्युक्त मर्यादाएँ नहीं सँभालेगा, तो वह कुदरत और अपनी आत्मा के विरुद्ध काम करने का फल जरूर चखेगा। कुदरत का जो आदर करते हैं, उन पर वह रहम करती है, पर अपनी स्वतंत्र बुद्धि के घमंड में जो उसका निरादर करते हैं, उन्हें वह अत्यधिक कड़ी सजाएँ देती है, यहाँ तक कि कभी-कभी उन्हें खतम ही कर देती है। अगले अध्याय में हम इनके उदाहरण देंगे।

● ● ●

अपनी बुद्धि का सदुपयोग या दुरुपयोग : ५ :

आज का मनुष्य का जीवन इतना विविध है कि उसकी बुद्धि के उपयोग से की जा सकनेवाली तमाम प्रवृत्तियों का परिचय देना इस छोटी सी पुस्तक के बूते की बात नहीं है। हम तो यहाँ पर केवल प्राथमिक आवश्यकताओं से, जैसे भूख, प्यास आदि से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ महत्त्व की बातों पर ही विचार करेंगे। अन्य सब मामलों में किस जगह बुद्धि का सदुपयोग हुआ और किस जगह दुरुपयोग, यह पाठक स्वयं सोचकर ही निर्णय करें।

भूख—सबसे प्रधान और अत्यंत प्राथमिक विकार भूख है। मनुष्य का शरीर एक यंत्र के समान है। उसे चालू रखने के लिए ईंधन चाहिए, टूट-फूट और घिसाई के लिए मरम्मत की व्यवस्था चाहिए और घर्षण कम होने के लिए स्नेहन भी चाहिए। इन सब आवश्यकताओं की द्योतक भूख है। बास और स्वाद के बल पर प्राणी यह जान लेता है कि किन चीजों से उसकी जरूरत पूरी होगी और उसका शरीर कार्यक्षम बना रहेगा।

सामान्यतः जो प्राणी कुदरती जीवन व्यतीत करते हैं, वे अपने जन्मजात स्वभाव के मुताबिक चलते हैं। वे जिंदा रहने के लिए खाते हैं और तन्दुरुस्त रहते हैं। पर बदनसीबी से मनुष्य अपनी बुद्धि का उपयोग केवल भूख दूर करने के लिए नहीं, बल्कि अपनी जीभ के चोंचले पूरे करने के लिए करता है और खास मसालेदार और स्वादिष्ट पदार्थ बनाता है। अच्छे स्वाद के मोह में वह बहुधा आवश्यकता से अधिक खा लेता है। याने वह खाने के लिए जिन्दा रहता है। जीभ के इन चोंचलों को पूरा करने की प्रवृत्ति के कारण ही लोगों को बहुत सी बीमारियाँ हो जाया करती हैं। अत्यधिक खुराक केवल हाजमे को ही बिगाड़कर गड़बड़ियाँ पैदा

कर देती हो, सो बात नहीं, पर अच्छी खुराक भी आवश्यकता से अधिक खाने पर नुकसानदेह या कभी-कभी विषैली भी साबित हो सकती है, जिससे काफी तकलीफ और असामयिक मौत की भी सम्भावना रहती है।

प्यास—जब अन्न हजम हो जाता है, तब वह द्रव पदार्थ के रूप में शरीर में खींच लिया जाता है। पौष्टिक तत्त्व खून के द्वारा उन स्थानों पर ले जाये जाते हैं, जहाँ उनकी जरूरत होती है और वही खून अन्य जगहों का मैल फेफड़ों में ले जाता है, जहाँ की हमारी साँस द्वारा आयी हुई प्राणवायु द्वारा वह जल जाता है। ये सब काम करते हुए खून में का पानी का बहुत सा अंश भाप बनकर कुछ तो हमारी साँस द्वारा और कुछ पसीने द्वारा बाहर निकल जाता है। पसीना निकलने से शरीर के उष्णतामान पर नियन्त्रण होता है। प्यास दर्शाती है कि खून में का बहुत सा पानी इस प्रकार उड़ गया है और इसलिए उसकी जगह हमें बाहर का काफी शुद्ध पानी लेना जरूरी है। यह पानी शरीर के विभिन्न भागों में केवल पौष्टिक तत्त्व पहुँचाने का ही काम नहीं करता, वरन् साथ-ही-साथ वह पेशाब द्वारा उसमें के मैल को बाहर फेंककर खून को साफ करता है और चमड़ी की सहायता से शरीर के उष्णतामान पर नियन्त्रण रखता है।

अपनी बुद्धि का दुरुपयोग कर मनुष्य इस स्वाभाविक विकार का नशैली चीजों द्वारा शमन करता है, जिससे शरीर में कई किस्म के जहर फैल जाते हैं। इनके कारण ज्ञान-तन्तु बधिर हो जाते हैं, विचार-शक्ति कमजोर हो जाती है और अन्त में मनुष्य अपना स्वास्थ्य गँवा बैठता है। इस लत से मनुष्य खुद की बेइज्जती तो कर ही लेता है, पर अपने कुटुम्ब का सर्वनाश भी कर बैठता है। आधुनिक समाज में पाये जानेवाले कई दुर्गुणों और पापों की जड़ शराब ही है।

बास—इसी प्रकार वास्तव में बास का उपयोग खाद्यपदार्थ का ठिकाना ढूँढ़ने के लिए करने के बजाय लोग नस सूँघने की आदत डालकर उसका दुरुपयोग करते हैं। नस या तमाखू सूँघने से उस क्षण भले ही आनन्द या तरोताजगी मालूम देती हो, पर अन्त में उसका कलेजे तथा

भेजे पर बुरा असर हुए बिना नहीं रहता।

लैंगिक भावना—प्राणियों की तमाम प्रवृत्तियों में शायद यह भावना प्रबलतम है। इसकी जड़ नर-मादे के उस पारस्परिक आकर्षण में है, जिसके कारण उनका संयोग होता है और उनका वंश कायम बना रहता है। करीब सभी पक्षी और बहुत से अन्य प्राणी भी इसी प्रवृत्ति को लेकर अपना बहुरंगी और भावुक जीवन प्रकट करते हैं, इतना ही नहीं; बल्कि जोड़ी-जोड़ी से अलग रहकर अपने बच्चों के लालन-पालन की कोशिश करते हैं। कुदरती तौर पर नर-मादों का संयोग किसी खास समय ही और वह भी औलाद पैदा करने के लिए ही होता है।

पर मनुष्य अपनी इच्छा के बूते पर जानवरों से भी बदतर बन गया है, क्योंकि उसने इस लैंगिक भावना को अपने इन्द्रियजन्य सुख का साधन बना लिया है। ऐसा करते समय औलाद पैदा करने की कल्पना भी उसके मगज में नहीं रहती। केवल सन्तान के लिए समागम करने के बजाय सन्तान तो समागम का अनिच्छापूर्वक प्राप्त फल हो जाता है। कुदरत के कानून की इस प्रकार तौहीनी करने के कारण कुदरत ऐसे लोगों को सूजाक, गर्मी आदि भयानक रोगों का शिकार बनाकर बड़ी कड़ी सजा देती है। अकेले कानून भंग करनेवालों को ही नहीं, बल्कि उनकी औलाद को भी वह अपने चपेट में ले लेती है।

कल्पना-शक्ति—कल्पना-शक्ति से न देखी हुई चीजों का अपने मनश्चक्षुओं के सामने चित्रण करना और कल्पना की सहायता से सुन्दर-सुन्दर चित्रों का निर्माण करना, यह अकेला मनुष्य ही कर सकता है। इस शक्ति का स्वाभाविक तौर से उपयोग करने के बजाय लोग अफीम, भंग, गाँजा, चरस आदि की सहायता से कृत्रिम उत्तेजना पैदा करते हैं। इनकी आदत भी शराब की आदत जैसी ही घातक है। इनकी लत लगे हुए लोग कोई भी काम करने योग्य नहीं रह जाते और अन्त में अपना तथा अपने अवलम्बियों का सर्वनाश कर बैठते हैं।

सृजन-शक्ति—मनुष्य को निर्माण करनेवाले ईश्वर से वह बिलकुल नजदीक का रिश्ता रखता है, क्योंकि उसे दी हुई बुद्धि से वह सारी

शक्तियों को अपने फायदे के लिए कामों में जुटा सकता है। उसका सबसे अच्छा उपयोग कर सकने के लिए उसे कुदरत के रास्तों का अवलंबन करना पड़ेगा, अन्यथा उसका नाश निश्चित ही समझिये। हम अपनी निजी शर्तों पर कुदरत का सहयोग नहीं प्राप्त कर सकते। ऐसी किसी भी कोशिश से सर्वनाश निश्चित ही है।

सूर्य की स्वाभाविक उष्णता से समुद्र के पानी की भाप बनती रहती है। सूर्य की शक्ति द्वारा मीठे पानी की भाप ऊपर उठ जाती है और नमक नीचे रह जाता है। भाप ऊपर जाकर, ठंड के कारण जमकर बादल बन जाती है और फिर पानी के रूप में पृथ्वी पर टपकती है। यह पानी जब पहाड़ों पर पड़ता है, तब उसमें काफी सुप्तशक्ति रहती है; क्योंकि कुछ तो उसकी ऊँचाई और कुछ पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के कारण वह पानी नीचे बहता आयगा और अन्त में फिर से समुद्र में मिल जायगा। समुद्र में मिलने के पहले यदि मनुष्य चाहे, तो वह उस नदी के जल की शक्ति का अपने फायदे के लिए उपयोग करने की तरकीबें निकाल सकता है। नदी के बिलकुल शुरू में वह नदी का पानी बाँध-बाँधकर रोक सकता है और इस प्रकार उस जल की सुप्तशक्ति को संचित कर जब, जहाँ और जैसे उसका जी चाहे, आटा पीसने की पनचक्कियाँ आदि चलाने के लिए उसका उपयोग कर सकता है। पहाड़ी मुल्कों में अक्सर पानी की शक्ति का ऐसा उपयोग किया जाता है। अथवा यदि वह चाहे, तो बड़े-बड़े यंत्रों द्वारा इस शक्ति से बिजली पैदा कर सकता है! यह बिजली फिर कई मील दूरी पर के गाँव, शहर और कस्बों में तारों द्वारा ले जायी जाकर उसका रोशनी के लिए या पानी के पंप, बिजली की मोटरें या अन्य कारखाने चलाने के लिए उपयोग किया जा सकता है। इतना सब कर लेने के बाद भी पानी के प्रवाह को सिंचाई आदि के लिए या नावों द्वारा आवागमन के उपयोग में लाया जा सकता है। इस प्रकार मनुष्य नदी के प्रवाह को रोककर सैकड़ों लोगों को मालामाल बना दे सकता है और इतना सब करते हुए भी उसका काम कुदरत के खिलाफ न होगा।

यह मनुष्य की बुद्धि का सदुपयोग कहलायेगा, क्योंकि उसने ऐसी परिस्थिति निर्माण कर दी कि कुदरत को अपने ही रास्ते से काम करते हुए उससे सहयोग करने के लिए मजबूर होना पड़ा। इसलिए वह उसका जीवन अधिक सुखी और समृद्ध बना देती है।

पर कभी-कभी इन्सान अपनी बुद्धि का गलत इस्तेमाल करके कुदरत के विरुद्ध काम करता है। वह खुद के हौसले के लिए कुदरत के कानूनों को तोड़ता रहता है। मसलन वह चावल छाँटने और गेहूँ का आटा पीसने के लिए यंत्रों का इस्तेमाल करता है, ताकि चावल और आटा मोती के समान सफेद दिखाई दें। वास्तव में चावल सफेद दिखाई देने का आग्रह गलत सौंदर्य-दृष्टि का द्योतक है, पर मनुष्य अपनी ही उधेड़बुन में इसे महसूस नहीं करता। पर इस प्रकार चावल को सफेद बनाकर वह कुदरत का सन्तुलन बिगाड़ देता है, क्योंकि कुदरत एक दाने में पोषकता के लिए अंकुर और हाजमे को मदद करने के लिए उसके ऊपर भूसा या चोकर रखती है। ये दोनों महत्त्व के द्रव्य छाँटने से नष्ट हो जाते हैं। इसलिए कुदरत का विरोध कर जो लोग छाँटे या छड़े हुए चावल खाते हैं, उन्हें जल्द ही बेरी-बेरी नाम का रोग हो जाता है, जो काफी तकलीफ देता है और अंत में मौत के घाट उतार देता है।

इसी प्रकार कुदरत हमें खाने के लिए सेब, खजूर, अंगूर आदि ताजे फल देती है। उन्हें वैसे का वैसा खाने के बजाय मनुष्य उनका रस निकालकर, उन्हें सड़ाकर और उनकी शराब या ताड़ी बनाकर पीता है, जिससे उसे कृत्रिम तरावट मालूम होती है। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, इन चीजों का इस्तेमाल करनेवालों को कुदरत कड़ी सजा देती है।

मनुष्य अपनी प्रजनन-शक्ति का अपने इंद्रियजन्य सुखों की पूर्ति के लिए उपयोग करता है, न कि कुदरत के मकसद को पूरा करने के लिए। कुदरत चाहती है कि स्त्री-पुरुष-समागम वंश-वृद्धि के लिए हो, पर मनुष्य संतति-प्रतिबंधक साधन ईजाद करके केवल वैषयिक सुख लूटना चाहता है, उसके आगे की जिम्मेवारी नहीं उठाना चाहता। पर

यहाँ भी अत्यधिक अत्याचार करने से मनुष्य केवल अपनी प्रजनन-शक्ति ही नहीं खोता, बल्कि उसके ज्ञान-तन्तु शिथिल हो जाते हैं और वह पागल भी हो जाता है।

कुदरत का विरोध करने से कैसी-कैसी मुसीबतें आती हैं, इनके और अधिक उदाहरण देने की जरूरत नहीं। मनुष्य का आधुनिक जीवन उनसे भरा पड़ा है। मनुष्य अपनी कर्तृत्वशक्ति और साहसप्रियता के बावजूद व्यक्तिगत क्षणिक सुखों के पीछे बेतहाशा पड़ गया है! अपनी तेज रफ्तार में वह यह भूला जा रहा है कि यह रास्ता उसे गहरी खाई की ओर ले जा रहा है, जिसमें गिरने से उसकी मौत निश्चित है। चूँकि बुद्धि का इस किस्म का दुरुपयोग विनाश की ओर ले जाता है, इसलिए हमारा वैसा जीवन क्षणभंगुर कहा जायगा। वह कुदरत के सनातन नियमों के विरुद्ध है और इसलिए स्थायी व्यवस्था में बहुत खलबली मचा देता है।

मनुष्य की तमाम भावनाओं में सर्वोच्च भावना प्रेम की है। वह अपनी जाति की निरपेक्ष सेवा के द्वारा उसे अभिव्यक्त करता है। मातृ-प्रेम में उसकी थोड़ी-सी झाँकी दिखाई देती है। इस प्रकार दूसरे व्यक्तियों की सेवा करके वह बहुत ऊँचे दर्जे का काम करता है और ईश्वरीय अंश को मानो दुनिया में अवतीर्ण करता है। वह अपनी अतिरिक्त कार्य-शक्ति का दूसरे के फायदे के लिए उपयोग करता है, ताकि उन्हें अधिक सुख और शान्ति मिले।

पर बुद्धि के दुरुपयोग से मनुष्य की यह भी प्रवृत्ति विकृत हो जाती है और मनुष्य अपने पड़ोसी पर प्रेम करने का शाश्वत धर्म छोड़कर स्वार्थ और लिप्सा में लिप्त हो जाता है और यही अन्त में जाकर दुनिया की चीजों की मिल्कियत स्थापन करने की प्रवृत्ति में परिवर्तित हो जाती है। इसलिए अतिरिक्त शक्ति अतिरिक्त सम्पत्ति के रूप में उसके पास इकट्ठी हो जाती है, जिसका उपयोग वह अपने स्वार्थ के लिए ही करता है। पर यह संचित सम्पत्ति यदि वह ऐशो-आराम और ठाट-बाट में रहकर उड़ाना चाहे, तो वह बहुत दिन नहीं चल सकती। और इस किस्म की सञ्चित सम्पत्ति जब वारिसों को मिलती है, तब भाई-भाई उसके लिए अक्सर एक-दूसरे से लड़ मरते हैं और अन्त में बरबाद हो जाते हैं।

मानवीय विकास की मंजिलें—व्यक्ति : ६ :

अल्पायुषी उद्भिज तथा प्राणिज जगत् में जो विभिन्न किस्म की व्यवस्थाएँ दिखाई देती हैं, उनका जिक्र एक पिछले अध्याय में हम कर ही चुके हैं। इस अध्याय में उन लक्षणों को मनुष्य पर लागू करके हम देखेंगे कि वह कहाँ या किस व्यवस्था में बैठता है।

चूँकि प्राणी अपने जन्मसिद्ध स्वभाव के कारण एक खास किस्म का ही जीवन व्यतीत कर सकते हैं, इसलिए वे निजी कोशिश से एक व्यवस्था में से उसके ऊपर की व्यवस्था में नहीं पहुँच सकते। जन्म से लेकर मौत तक उनका जीवन एक खास किस्म के ढाँचे में ढला हुआ रहता है। परोपजीवी वर्ग का प्राणी अपने जीवन के अन्त तक परोपजीवी बना रहेगा। एक चीते के लिए अपना स्वभाव बदलना उतना ही आसान है, जितना कि उसकी चमड़ी के दाग। उसकी इच्छा हो या न हो, यदि उसे जीना है, मरना नहीं है, तो उसे दूसरे प्राणियों को मारकर खाना ही पड़ेगा। उसके विशिष्ट जीवन के लिए वह स्वयं जिम्मेवार नहीं हो सकता। इसलिए उसे स्पर्धा या समूहप्रधान व्यवस्था में पहुँचना सम्भव नहीं होगा।

हम पहले देख ही चुके हैं कि मनुष्य की यह खासियत है कि उसे बुद्धि प्रदान की गयी है और उसके बूते पर वह अपने आसपास का वातावरण बदल सकता है। यही मनुष्य और अन्य प्राणियों में अन्तर है।

एक चोर या डाकू परोपजीवी कहा जा सकता है। पर यदि वह चाहे तो अपना जीवन कम हिंसामय बना सकता है और अच्छी बड़ी जमीन खरीदकर एक जमींदार बन सकता है, जिससे उसे खुद बिना मेहनत किये अपनी जमीन से काफी आमदनी मिल सकती है। इस प्रकार वह परोपजीवी व्यवस्था से थोड़ा ऊँचा उठकर आक्रामक व्यवस्था में पहुँच सकता है।

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
BANGALORE-1.

अथवा वह यदि चाहे, तो एक प्रामाणिक किसान या कारीगर बन सकता है और इस प्रकार अपनी मेहनत-मजदूरी से गुजर-बसर कर सकता है। ऐसा करने से वह तीसरी याने पुरुषार्थयुक्त व्यवस्था में पहुँच सकता है।

वह एक हिन्दू-अविभक्त-कुटुम्ब का जिम्मेदार व्यक्ति बन सकता है और अपनी आमदनी का अपने ऊपर अवलम्बित तमाम कुटुम्बियों के साथ उपभोग कर सकता है। ऐसा करने से वह समूहप्रधान व्यवस्था में पहुँच जायगा।

सम्भवतः मानव के प्रेम से प्रेरित होकर वह एक उत्तम राष्ट्रीय कार्य-कर्ता बन सकता है और वह किसी उच्च ध्येय को लक्ष्य करके गरीबी और सादगी में अपनी गुजर-बसर करेगा। ऐसा करने से वह उच्चतम व्यवस्था—सेवाप्रधान व्यवस्था में पहुँच जायगा।

सारांश यह कि मनुष्य यदि कुदरत के नियमों को स्वीकार करे और उत्तरोत्तर अधिकाधिक ऊँचे दर्जे तक पहुँचना है, यह अपना ध्येय बना ले और संयम और अनुशासन मानने के लिए तैयार हो, तो इस प्रकार उसका विकास होते रहने की गुंजाइश है।

उपर्युक्त व्यवस्थाओं में आनेवाले मनुष्यों की खासियतें क्या हो सकती हैं, इनका यहाँ संक्षेप में जिक्र कर देना उपयुक्त होगा।

परोपजीवी व्यवस्था—प्रमुख वर्ग—एक डाकू, जो बच्चे के गहनों के लोभ से उसे मार डालता है।

१. तृष्णायुक्त स्वार्थ से प्रेरित होना।
२. इरादा : अपनी करतूतों से दूसरों को क्या तकलीफ होती है, इसकी परवाह न कर अपना स्वार्थ साधना।
३. फायदे के स्थान को यदि नष्ट नहीं करना, तो भी नुकसान तो अवश्य पहुँचाना।
४. केवल निजी हकों पर जोर।
५. निजी कर्तव्यों की भावना का पूर्णतया अभाव।

चित्र नं० ६. गहनों के लोभ से लड़की को मार डालनेवाला डाकू

६. दूसरे के हितों की परवाह न करना।
७. हिंसा निर्माण करना।

मुख्य लक्षण—फायदे के स्थान को नष्ट करना।

आक्रामक व्यवस्था—प्रमुख वर्ग–एक पाकेटमार, जो अपने लक्ष्य को उसके नुकसान का पता नहीं लगने देता।

१. इच्छाओं द्वारा प्रेरित स्वार्थ।
२. अपना स्वार्थ साधने पर तुला हुआ, पर यथासंभव अपने लक्ष्य को कम नुकसान पहुँचानेवाला।
३. केवल हकों पर जोर।
४. कर्तव्यों का भान नगण्य सा या बिलकुल नहीं।
५. दूसरे के फायदे का कोई खयाल नहीं।
६. हिंसा का जनक।

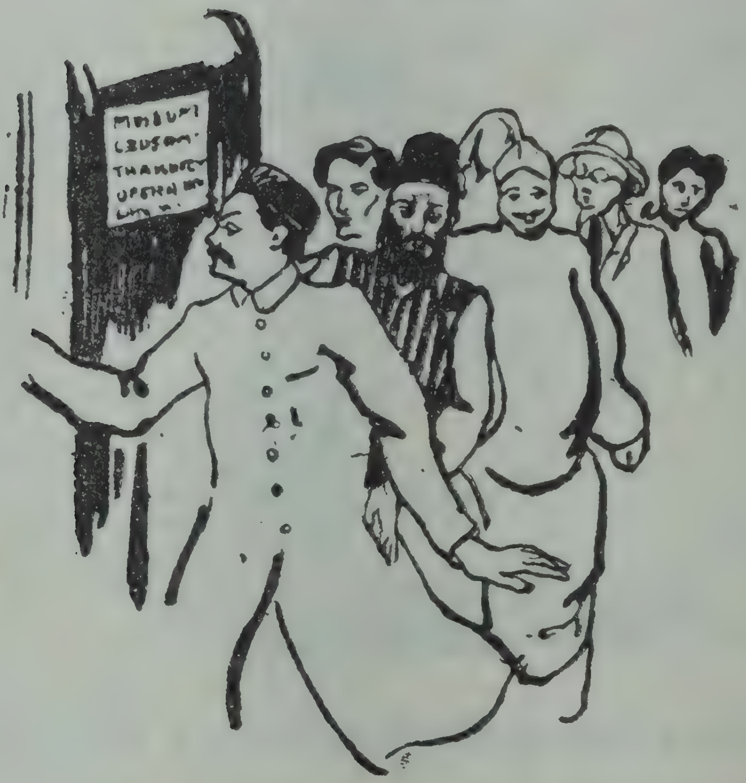

चित्र नं० ७. पाकेटमार का काम

मुख्य लक्षण—बदले में कुछ दिये बिना फायदा कर लेने की प्रवृत्ति रखना।

पुरुषार्थयुक्त व्यवस्था—प्रमुख वर्ग—एक किसान खेत जोतता है, उसमें खाद डालता है, उसकी सिंचाई करता है, उसमें चुने हुए बीज बोता है, फसल की रखवाली करता है और बाद में फसल काटकर उसका उपभोग करता है।

१. ऊँचे दर्जे के स्वार्थ और महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित।

२. उसका स्वाभिमान कहता है कि जिस चीज का तू फायदा उठाना चाहता है, उसके लिए तू शारीरिक कष्ट और मानसिक चिन्तन कर।

३. ढाढ़सप्रियता और खतरा उठाने की तैयारी।

४. यथासम्भव सहकारियों और दूसरों के भी फायदा पहुँचाने की प्रवृत्ति।

५. हकों और कर्तव्यों का सन्तुलन करने की प्रवृत्ति।

६. दूसरों के प्रति अपने कर्तव्यों का कुछ अधिक भान।

चित्र नं० ८. सहयोग द्वारा एक-दूसरे के खेत जोतनेवाले किसान

७. न्याय पर अधिष्ठित।

८. हिंसा-निर्माण होने की सम्भावना रहती है।

मुख्य लक्षण—मेहनत और फायदे का उचित समन्वय, धोखा उठाने की तैयारी।

समूहप्रधान व्यवस्था—प्रमुख वर्ग—अविभक्त कुटुम्ब का नेता, जो सारे कुटुम्ब के हित के लिए काम करता है। ग्राम-पंचायत या कोऑप-

रेटिव सोसाइटी, जो अपने-अपने दायरे के लोगों के हित के लिए काम करती है।

१. इसमें व्यक्ति निजी स्वार्थ से नहीं, बल्कि समूह के स्वार्थ से प्रेरित होता है।
२. इसमें समूह की इच्छा सर्वोपरि रहती है, इसलिए कभी-कभी व्यक्तिविशेष को समूह के हित के लिए मर मिटना होगा।
३. इसमें अपने समूहसम्बन्धी कर्तव्यों पर जोर रहता है।
४. इसमें व्यक्ति केवल मेहनत करने का जिम्मेवार है। कभी-कभी उसे फल का हिस्सा न भी मिले।
५. दूसरों का हित-रक्षण इसका आधार है।
६. समूह के बाहर के लोगों के प्रति शायद हिंसा निर्माण हो सकती है।

मुख्य लक्षण—व्यक्ति का फायदा नहीं, बल्कि समूह का फायदा या हित प्रधान।

सेवाप्रधान व्यवस्था—प्रमुख वर्ग—रिलीफ या सहायता-कार्य करनेवाला।

१. दूसरों के फायदे से प्रेरित होता है, फिर वैसा करने में निजी नुकसान की कुछ परवाह न करना।
२. अपना कर्तव्य किये जाता है; अपने अधिकारों का कोई भान नहीं रखता।
३. बिना बदला मिले दूसरों की सेवा करने की तीव्र इच्छा, क्योंकि वह स्वयं प्रेममय होता है।
४. अहिंसा और शान्ति कायम करता है।

मुख्य लक्षण—कोई मुआवजे की परवाह न करके दूसरों का भला करना।

लोगों के, समाजों के या राष्ट्रों के समुदायों में इन वर्गों में आनेवाले व्यक्ति हमेशा ही मिला करते हैं। हमारे ही देश में पुराने वर्णाश्रम-धर्म की प्रथा इन्हीं मुख्य भेदों पर अधिष्ठित थी। अपनी शारीरिक आवश्यकताएँ

पूरी होती हैं, इसलिए शूद्र नौकरी करते हैं, इसलिए वे पहले दो वर्गों में आते हैं। वैश्य लोग कुछ धोखा उठाने की हिम्मत करते हैं, इसलिए वे तीसरे वर्ग में आते हैं। देशप्रेमी क्षत्रियों की एकमात्र धुन, राज्य की रक्षा

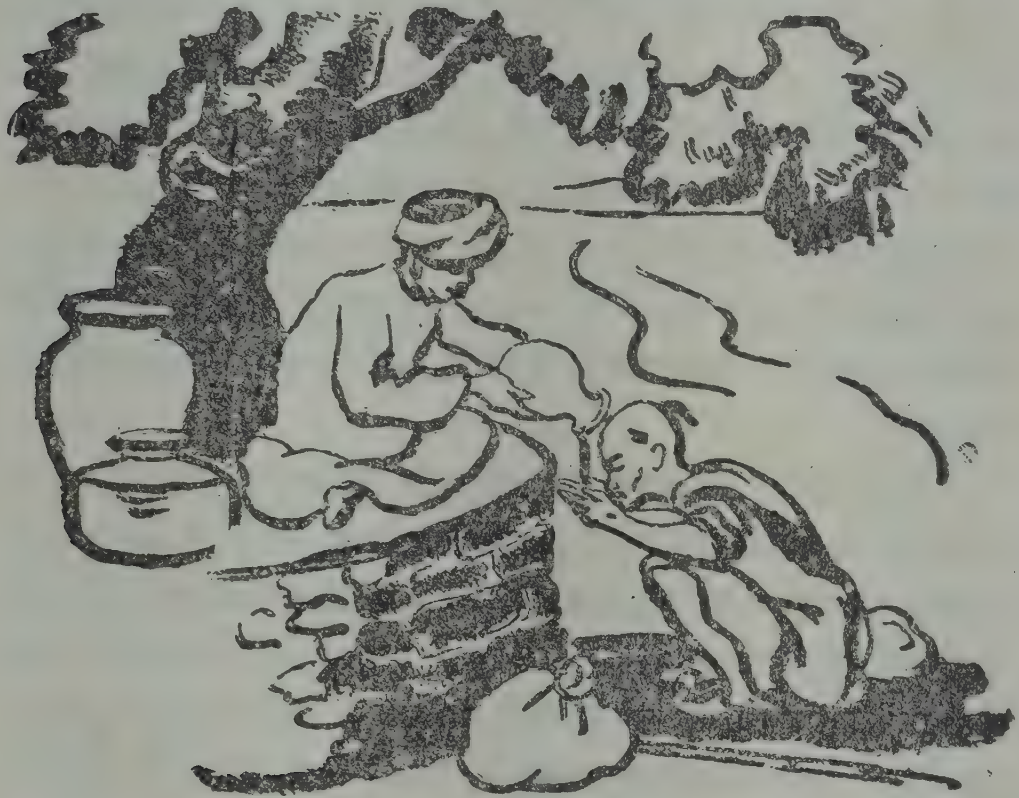

चित्र नं० ९. मुआवजे की अपेक्षा न रखते हुए राहगीरों को पानी पिलाना

करने की रहती थी, इसलिए वे समूहप्रधान व्यवस्था में आ सकते हैं। पर जो निःस्वार्थ बुद्धि से समाज की सेवा करते थे और लोगों के सामने उच्च आदर्श रखते थे और निजी कोई सम्पत्ति या इस्टेट नहीं बनाते थे, उन्हें ब्राह्मण कहते थे।

आज की जात-पाँत संस्था उन पुराने आदर्शों से काफी गिर गयी है। अब उन नामों से पुराने गुणों का कोई बोध ही नहीं होता। आज का तथाकथित ब्राह्मण शायद एक हाईकोर्ट का जज होगा या आई० सी० एस०—आई० ए० एस० होगा, जो उसे मिलनेवाली मोटी तनखाह के

लालच से काम किये जाता है। यह आदमी कितना भी प्रामाणिक और होशियार क्यों न हो, उसे कायम तौर पर अपने किये काम का मुआवजा मिलता रहता है और अपने जीवन में किसी किस्म का धोखा नहीं उठाना पड़ता, इसलिए यह अपने पुराने वर्ग से सचमुच शूद्र ही है। यदि वह बड़ा व्यवसायी हो, तो वैश्य कहलायेगा। यदि स्व० लोकमान्य तिलक जैसा स्वार्थत्यागपूर्वक लोगों को आजादी दिलाने की दिलोजान से कोशिश करनेवाला राजनैतिक कार्यकर्ता होगा, तो वह सर्वश्रेष्ठ क्षत्रिय कहलायेगा। और जो परिणामों की परवाह न करते हुए अपने मकसद की ओर अग्रसर होता जाता है और साध्य की अपेक्षा साधनों की शुद्धता का अधिक खयाल रखता है—उदाहरणार्थ गांधीजी—उसे सच्चा ब्राह्मण कहा जा सकता है।

सम्भव है कि उस समय की परिस्थिति के कारण वर्णाश्रम-धर्म के संस्थापकों ने वर्ण जन्मसिद्ध बना दिया हो पर उससे वह काफी जकड़ दिया गया है। उसके कारण व्यक्ति को अपनी रुचि के मुताबिक कोई भी पेशा उठाने की सहूलियत नहीं रह गयी। इसलिए आजकल की दुनिया में जहाँ विभिन्न रोजगार पैदा हो गये हैं, जहाँ मजदूर एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से जा सकते हैं,आवागमन तेज रफ्तार से हो सकता है, कोई भी नया काम सीखने की सहूलियत है और शिक्षा सार्वत्रिक हो गयी है, वह बेकार साबित हुई। परिस्थिति कोई भी हो, व्यवसायप्रधान गुट बनना स्वाभाविक ही है। जो नीचे की श्रेणी से ऊपर उठना चाहे, उसे हर किस्म का प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

हमने जिन भिन्न वर्गों का ऊपर जिक्र किया है, वे उतने स्पष्ट रूप से शायद व्यवहार में नजर न आयें। सम्भव है कि एक ही व्यक्ति प्रसंग-विशेष पर भिन्न-भिन्न तरीकों का बर्ताव करे। यह सब उस प्रसंग-विशेष की प्रेरक शक्ति के हेतु पर निर्भर रहेगा। उसका सर्वसामान्य वर्गीकरण उसके कार्यों के संतुलन और उसके जीवन-दर्शन पर अवलम्बित रहेगा।

● ● ●

मानवीय विकास की मंजिलें—समूह या राष्ट्र : ७ :

जिस प्रकार एक व्यक्ति एक व्यवस्था से चढ़कर उसके ऊपर की व्यवस्था में जा सकता है, उसी प्रकार कई व्यक्तियों का एक समूह या समूची मानव-जाति एक व्यवस्था से अधिक उन्नत अवस्था में चढ़ सकती है और उस उन्नत अवस्था के गुणों को उत्कटता से प्रकट कर सकती है। इसलिए कोई भी समूह या राष्ट्र कौनसी अवस्था में है, यह जाँचना हो, तो यह देखना चाहिए कि वह कौनसे गुण उत्कटता से व्यक्त करता है और अन्य समूहों या राष्ट्रों के प्रति उसका रुख कैसा है।

अपनी सहूलियत के लिए संस्कृति के मार्ग के हम तीन हिस्से कर सकते हैं—प्रारम्भिक या जंगली अवस्था, आधुनिक या मानवावस्था और प्रगत या अध्यात्मप्रधान व्यवस्था। जिन पाँच व्यवस्थाओं का हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं, उनकी दृष्टि से आमतौर पर यह कह सकते हैं कि पहली दो व्यवस्थाएँ याने परोपजीवी और पराश्रयी मानव की प्राथमिक या जंगली अवस्था की द्योतक हैं; दूसरी दो, याने पुरुषार्थयुक्त और समूहप्रधान व्यवस्थाएँ आधुनिक या मानवावस्था की द्योतक हैं और सेवाप्रधान व्यवस्था उन्नत या आध्यात्मिक अवस्था की द्योतक है। इनमें से पहली अवस्था तो निस्संशय क्षणभंगुर और हिंसाप्रधान है, दूसरी अवस्था भी क्षणभंगुर और हिंसामय ही है, पर शाश्वतता और अहिंसा की ओर अग्रसर होने की उत्कट इच्छा भी उसमें मौजूद है; पर तीसरी तो निश्चय ही शान्ति, शाश्वतता और अहिंसा की ओर ले जानेवाली है।

प्रारम्भिक या जंगली अवस्था—इस अवस्था में रहनेवाले समूह या राष्ट्र दूसरे समूह या राष्ट्रों के प्रति परोपजीवी रह सकते हैं। परोपजीवी मनुष्य दूसरों के हकों पर या उसकी इच्छित वस्तु उसे किस तरीके से मिल रही है या उसके कार्यों का क्या परिणाम होगा, इन पर विचार करने की

फिक्र नहीं करता। जब शेर किसी भेड़ पर हमला करता है, तब वह यह विचार नहीं करता कि उसके हमला करने का भेड़ के दिल पर क्या असर होगा। उसे तो अपनी भूख दूर करने की उस समय दरकार रहती है! इसी प्रकार जब एक शिकारी या केवट शिकार करता है या मछलियाँ पकड़ता है, तब उसे कोई हिचकिचाहट नहीं होती, क्योंकि उस पर तो केवल निजी आवश्यकता की पूर्ति की धुन सवार रहती है। इसी प्रकार यदि किसी राष्ट्र की हस्ती कायम रखने के लिए उसे दूसरे राष्ट्र को नुकसान पहुँचाना या उसको नष्ट कर देना आवश्यक हो, तो समझ लेना चाहिए कि पहला राष्ट्र परोपजीवी है।

पुराने जमाने के यूनानी और रोमन साम्राज्य दूसरों से प्राप्त करों और गुलामों की प्रथा के बूते पर ही ऐश्वर्य के शिखर पर चढ़े हुए थे, इसलिए वे परोपजीवी ही थे।

आज जो राष्ट्र अपने उपनिवेशों के उत्पादन या शोषित मजदूरी पर अवलम्बित हैं, वे परोपजीवी हैं। ब्रिटेन का चीन से अफीम का व्यापार, ब्रिटेन का अमेरिका के दक्षिणी देशों से किया हुआ गुलामों का व्यापार, लियोपोल्ड राजा का पश्चिमी अफ्रीका की इस्टेटों को चूसना और ब्रिटिश कारखानेवालों का हिन्दुस्तानी बाजारों पर अवलम्बित रहना, ये सब परोपजीवी ही हैं, क्योंकि उनके भक्ष्य का विनाश निश्चित ही है।

अन्य कोई उन बन्दरों के समान होते हैं, जो बगीचे के फल तो तोड़कर खा जाते हैं, पर उस बगीचे के निर्माण करने में उनका कोई हाथ नहीं होता। पर एक फर्क रहता है कि वे झाड़ को कोई नुकसान नहीं पहुँचाते; पेड़ ज्यों-के-त्यों छोड़ देते हैं, ताकि वे अधिक फल पैदा कर सकें। यह बन्दर आक्रामक है।

पुराने जमाने के इतिहासों में नादिरशाह सरीखे लुटेरों का जिक्र है, जिन्होंने मंदिर लूटे और जो अतिरिक्त सम्पत्ति लूट ले गये, पर लोगों की सम्पत्ति निर्माण करने की क्षमता कायम रख गये। उनके हमले आक्रामक थे।

आज के दक्षिण अमेरिका के राज्यों को अपने शिकंजों में रखनेवाले न्यूयार्क के धनपति इस वर्ग में आते हैं। लिमिटेड कम्पनी के आजकल के शेअर होल्डर बिना मेहनत किये डिविडंड पाते रहते हैं, इसलिए वे

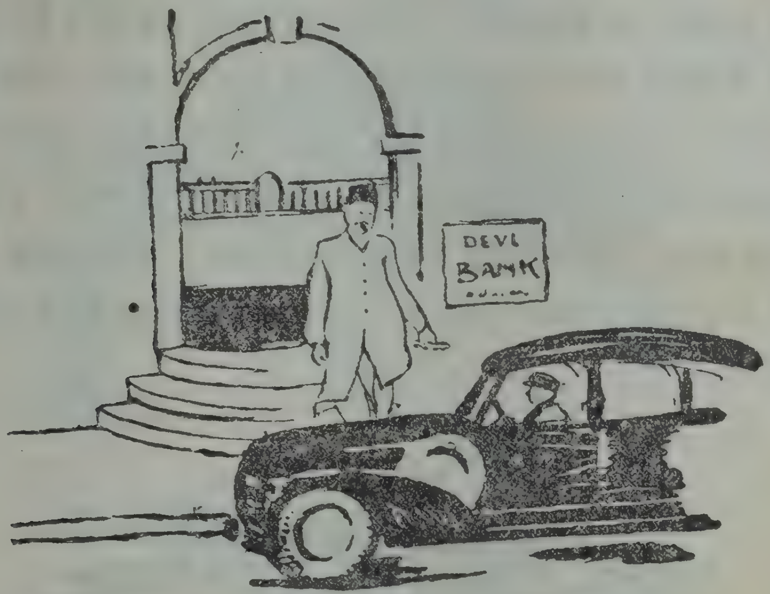

चित्र नं० १०.

सम्पत्ति स्वयं पैदा न करते हुए ऐशो-आराम में रहनेवाले पूँजीपति

आक्रामक ही हैं। उसी प्रकार बड़े बड़े संघ, ट्रस्ट और जॉइंटवाले लोग, एकाधिकार प्राप्त कर लेने से, अपनी लागत से कहीं अधिक मुनाफा कमाते हैं। वे सब आक्रामक ही हैं।

आधुनिक या मानव-अवस्था—पहली अवस्था में व्यक्तिगत हित और हक की प्रधानता थी। इस मानव-अवस्था में अपने कर्तव्यों का भान थोड़ा-थोड़ा पैदा होता है और कई बार हक और कर्तव्य में सन्तुलन रखने की कोशिश दिखाई देती है। इस अवस्था के राष्ट्र अपनी मेहनत से जो कुछ मयस्सर होगा, उसी पर गुजर-बसर करते हैं और दूसरे राष्ट्रों को कोई नुकसान नहीं पहुँचाते। हिन्दुस्तान तथा चीन की कृषि-प्रधान संस्कृतियाँ इस पुरुषार्थयुक्त व्यवस्था के अच्छे प्रतीक हैं। यहाँ के लोग शान्तिपूर्वक अपना-अपना व्यवसाय करते रहते हैं।

इसलामी संस्कृति में जातीय संगठन बड़ा जबरदस्त है। उसमें गोरा, काला, लाल, भूरा या पीला, ऐसे वर्ण-भेद को स्थान ही नहीं; इतना ही नहीं, माली हालत के कारण भी एक दूसरे से छोटा या बड़ा नहीं माना जाता। इसलिए यह समूहप्रधान व्यवस्था का खासा उदाहरण है। इस वर्ग में आज के नाजी और फासिस्ट भी आ जाते हैं। ये लोग अपने समूह के हित के लिए बहुत सतर्क रहते हैं और वह साधने के लिए दूसरों का कुछ भी नुकसान करने में आनाकानी नहीं करते। फिर भी इन्हें समूहप्रधान ही कहना पड़ेगा, क्योंकि अपने संघ का अनुशासन ये बड़ी मुस्तैदी से पालते हैं। इस समूह का हरएक व्यक्ति अपना स्वतंत्र अस्तित्व समूह में विलीन कर देता है।

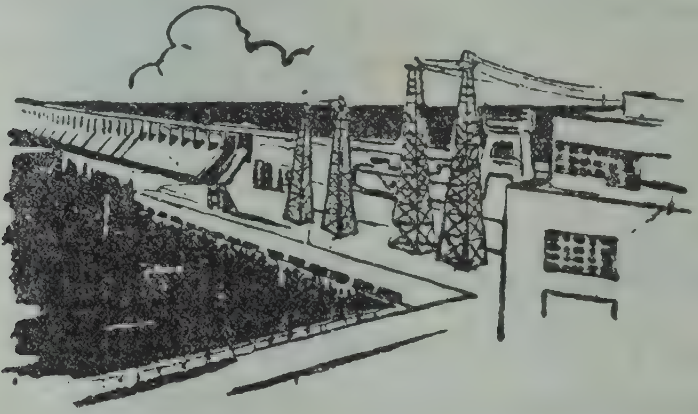

चित्र नं० ११.

जलविद्युत् निर्माण करनेवाले केन्द्रों जैसे सार्वजनिक उपयोगिता के काम

उन्नत या आध्यात्मिक अवस्था—इसमें अपने समूह के लोगों के प्रति ही नहीं, पर प्राणिमात्र के प्रति अपने कर्तव्य की भावना बहुत प्रखर रहती है। करीब सभी धर्म यह अवस्था प्राप्त करने के साधन हैं। उनमें पड़ोसी पर प्रेम करने और दुःखियों की सेवा करने की हिदायतें दी हुई हैं। वे यह भी बताते हैं कि ईश्वरप्रणीत मार्ग छोड़ने से मनुष्य किस प्रकार पाप का भागी होता है और फिर कैसे उसे उसकी सजा भुगतनी पड़ती

है। इन्द्रियों की प्रबलता और ऐहिक सुखों की क्षणभंगुरता की ओर वे संकेत करते हैं। इस अवस्था को प्राप्त कोई समूह अभी तक हम नहीं निर्माण कर सके हैं। पुराने जमाने का ब्राह्मण इसके बहुत कुछ करीब आ सकता है, पर आज का ब्राह्मण उससे कोसों दूर है।

चित्र नं० १२. समाज की सेवा के लिए काम करनेवाला वैज्ञानिक

यही अवस्था प्राप्त करने के लिए गांधीजी पूरी शक्ति लगाकर कोशिश कर रहे थे। अपने ध्येयों को कार्यान्वित करने के लिए उन्होंने अखिल भारत चरखा-संघ, अखिल भारत ग्राम-उद्योग-संघ सदृश संस्थाएँ निर्माण की हैं। यदि वे यशस्वी हुए होते, तो अहिंसात्मक, शाश्वत समाज-व्यवस्था कायम होती, जिसके कारण स्थायी शान्ति स्थापन करनेवाली संस्कृति निर्माण होती और दुनिया पर राम-राज्य कायम हुआ होता।

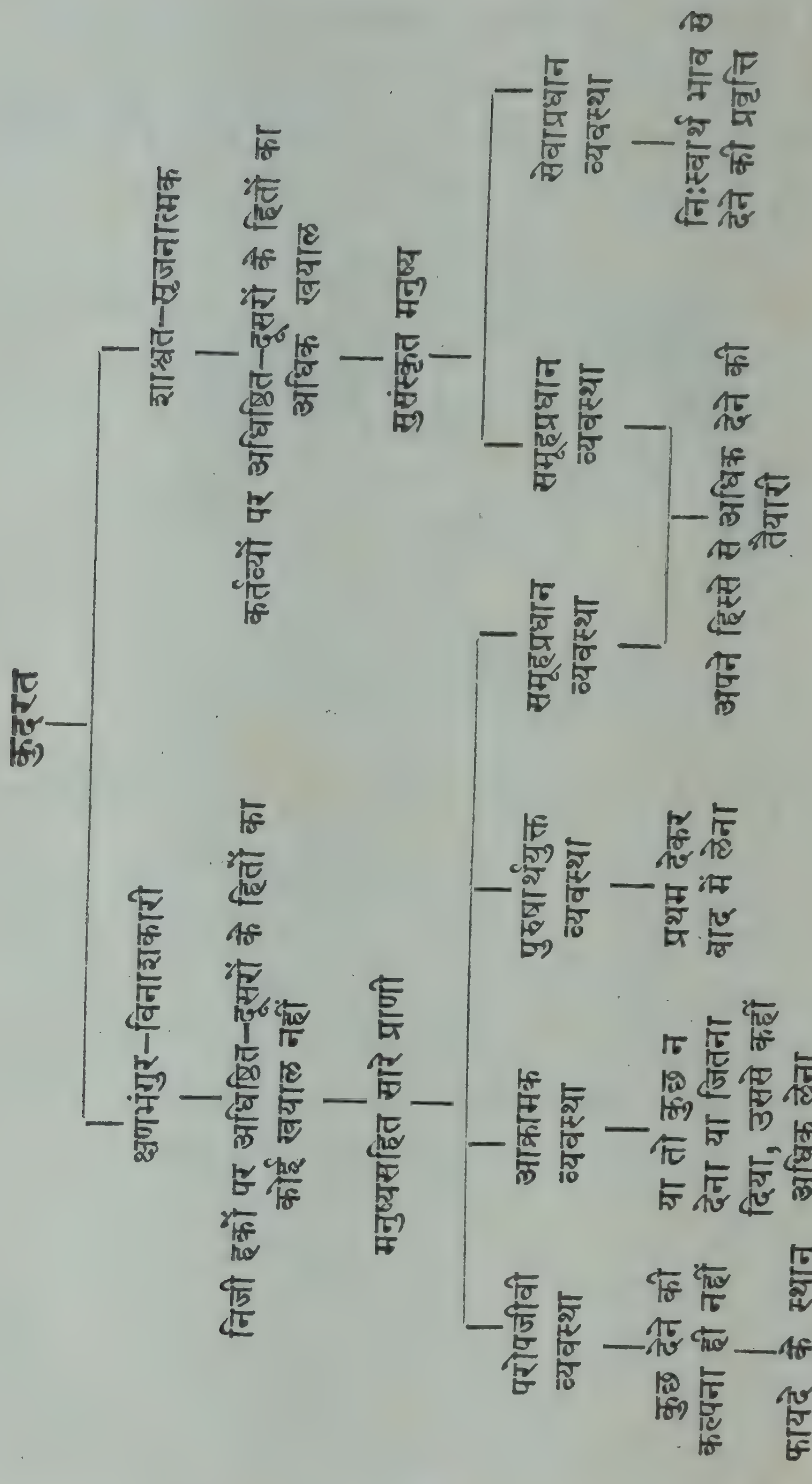
कुदरत
क्षणभंगुर–विनाशकारी
शाश्वत–सृजनात्मक
निजी हकों पर अधिष्ठित–दूसरों के हितों का कोई खयाल नहीं
कर्तव्यों पर अधिष्ठित–दूसरों के हितों का अधिक खयाल
मनुष्यसहित सारे प्राणी
सुसंस्कृत मनुष्य
परोपजीवी व्यवस्था
आक्रामक व्यवस्था
पुरुषार्थयुक्त व्यवस्था
समूहप्रधान व्यवस्था
समूहप्रधान व्यवस्था
सेवाप्रधान व्यवस्था
कुछ देने की कल्पना ही नहीं
फायदे के स्थान को नुकसान पहुँचानेवाली
या तो कुछ न देना या जितना दिया, उससे कहीं अधिक लेना
प्रथम देकर बाद में लेना
अपने हिस्से से अधिक देने की तैयारी
निःस्वार्थ भाव से देने की प्रवृत्ति

मूल्यों के पैमाने   : ८ :

हम किसी भी वस्तु का मूल्यांकन पूर्वनिर्धारित पैमानों की कसौटी पर किया करते हैं। चीजों का मूल्य कूतने में भी हम ऐसी ही कई इकाइयों का उपयोग करते हैं; कुछ की हम संख्या देखते हैं,कुछ का वजन देखते हैं, कुछ का मिकदार और कुछ की लम्बाई। गेहूं, गुड़ और लोहा सदृश ठोस पदार्थों का वजन करते हैं—टन, मन आदि में; इमारती लकड़ी का घनफुटों में मिकदार देखते है, बाँसों की संख्या देखते हैं, कपड़े के गज देखते हैं, कागज की रीमों में गिनती होती है, बीड़ियों की कट्टों में,तेल सरीखे प्रवाही पदार्थ की सेरों में और स्याही और मिट्टी के तेल की बोतलों के हिसाब से गिनती होती है। हरएक इकाई का अपना-अपना पूर्वनिर्धारित नाप होता है और वह नाप अमुक वस्तुओं के लिए ही इस्तेमाल किया जाय, यह भी तय ही रहता है। गेहूँ की दूकान में जाकर कोई 'इतने हजार दाने दो', ऐसी माँग नहीं करेगा।

नाप लागू करने का तरीका—जब तक हम किसी भी चीज का मूल्य अपने नफा-नुकसान की दृष्टि से कूतते हैं, तब तक हमारी दृष्टि स्वार्थी कही जायगी और जब हम किसी बाह्य ध्येय या दूसरों के फायदे की दृष्टि से उसका मूल्य कूतेंगे, तब हमारी दृष्टि निस्स्वार्थी या परोपकारी कही जायगी। प्रायः सभी प्राणी खुद सोचते हैं, पर उनका वह सोचना अपने तक ही सीमित रहता है, याने वे इतना ही देखेंगे कि अमुक चीज का उनको खुद क्या फायदा मिलेगा। उन्हें निस्स्वार्थी दृष्टि ही नहीं होती। उसी प्रकार प्रारम्भिक अवस्था में मानव को भी निस्स्वार्थी दृष्टि की कोई कल्पना ही नहीं थी। सुसंस्कृत या उन्नत हुआ मनुष्य ही अपने फायदे के परे की बात सोच सकता है। और वास्तव में बात ऐसी ही है कि मनुष्य की कितनी उन्नति हुई है, यह जानने के लिए उसके मूल्यों के पैमाने देखने चाहिए।

व्यक्तिगत या स्वार्थी मूल्य

मूल्यों के प्रकार—जीवन के हरएक दायरे में हमें चीजों तथा मनुष्यों का मूल्य कूतने के मौके आते हैं। हम कहते हैं कि फलाने कुएँ का पानी मीठा और साफ है, फलाना फूल सुंदर है और फलाना आदमी भला और उदार है। ये निर्णय दर्शाते हैं कि उनके पीछे कुछ खास पैमाने हैं। जब कोई मनुष्य हमेशा ठीक-ठीक अंदाज लगा सकता है, तब हम उसे अच्छा परीक्षक कहते हैं—इसका मतलब यह है कि वह ठीक-ठीक पैमानों का उपयोग करता है। इन पैमानों के हम दुनियावी, वैचारिक या सांस्कृतिक और आध्यात्मिक, ऐसे विभाग कर सकते हैं।

एक व्यापारी चीजों की कीमत इस पर आँकेगा कि उनसे उसे कितना मुनाफा मिल सकेगा। निर्वाह-वेतन पर काम करनेवाला कार्यकर्ता किसी चीज का कीमत इस पर आँकेगा कि वह उसकी अन्न की, कपड़े की या धूप-पानी से संरक्षण पाने की जरूरत किस हद तक पूरा कर सकती है। एक कलाकार केवल सौंदर्य-दृष्टि से ही उसकी कीमत आँकेगा। प्राचीनता, प्रसिद्धि और कोई चीज अपने पास रखने की लालसा, ये भी चीजों के मूल्य कूतने के पैमाने हैं। काहिरा के अजायबघर के मार्गदर्शक के लिए किसी भी चीज की प्राचीनता उस चीज को अधिक कीमती साबित करने के लिए काफी है। वह प्रवासी को जरूर जतायेगा कि यह तूताखमेन का शरीर इतने हजार सालों का पुराना है और यह रामसे का शव ईसा के पूर्व इतने हजार सालों से रखा हुआ है। वह अपेक्षा करता है कि जितनी पुरातनता हम बतायेंगे, उतना ही अधिक प्रेक्षक पर असर पड़ेगा।

रोम या फ्लोरेन्स में जानेवालों को वहाँ के मार्गदर्शक कोई भित्ति-चित्र बतायेंगे और कह देंगे कि ये प्रसिद्ध कलाकार माइकेल एंजिलो और रूबांस के बनाये हुए हैं। इन कलाकारों के नाम इतने प्रसिद्ध हैं कि बेचारे प्रवासी को उसे बताये हुए चित्र सचमुच सुन्दर हैं, ऐसा मान लेना पड़ता है।

पेरिस के लोगों को सच्ची सौंदर्य-दृष्टि पर बहुत नाज है। वहाँ आपको सुन्दर इमारतें, सुन्दर उद्यान, सुन्दर कला और सुन्दर वाङ्मय अवश्य दिखाई देगा।

ब्रिटिश म्यूजियम देखने गये हुए प्रवासी को यह बताया जायगा कि फलानी वस्तु हम चीन से लाये हैं, फलानी वस्तु हिंदुस्तान से लाये हैं, फलानी ईरान से और फलानी पेरू देश से। इस प्रकार उस प्रवासी पर इस बात की छाप डालने की कोशिश की जायगी कि ब्रिटिश लोग दुनिया के हर कोने से चीजें प्राप्त करने में उस्ताद हैं।

न्यूयार्क के गगनचुम्बी मकानों का सिरा देखने के लिए जब कोई अपनी नजर उठाता है, तब मेगॅफोन से आपको हरएक मकान की कई लाख डॉलरों में कीमत सुनाई देगी। बिचारा गरीब विदेशी प्रवासी उन मकानों की तवारीख, उनमें की कला और उनकी अद्वितीय खूबसूरती देखकर नहीं, बल्कि वहाँ की प्रचंड संपत्ति देखकर दंग रह जायगा।

किसी खास पैमाने का किसी खास वस्तु के लिए संपूर्ण रूप से उपयोग किया जाता हो ऐसा नहीं है, पर कौनसा पैमाना इस्तेमाल किया गया है, इससे किस बात पर विशेष जोर दिया गया है, यह स्पष्ट होता है। ताजमहल देखने के लिए जानेवाला यात्री जिस संगमर्मर के पत्थर से ताजमहल बनाया हुआ है, उसकी तारीफ के पुल नहीं बाँधता। क्या कॅररा (सफेद संगमर्मर के लिए प्रसिद्ध इटली देश का एक सूबा) में उससे बढ़िया संगमर्मर नहीं मिल सकते? ताजमहल का नकशा बनानेवाले कारीगर का वह शायद नाम भी न जानता हो। उसका पुरानापन भी उस पर कोई खास छाप नहीं डाल सकता। उस स्थानविशेष पर उसकी पार्श्वभूमि के साथ उस भवन की जो छाप देखनेवाले पर पड़ती है, वह महत्त्व की है। उसे देखकर उसके मुँह से हठात् उद्गार निकलते हैं, "ओहो, क्या खूबसूरत इमारत है।"

किसी जौहरी के यहाँ 'शो केस' में रखी हुई हीरे-जड़ित सोने की अँगूठी की अपनी कुछ निश्चित कीमत होती है। पर विभिन्न बातों पर जोर देने से

मूल्य-मापन के पैमाने भी कैसे बदल सकते हैं, इसके कुछ उदाहरण ऊपर हमने दिये। किसी प्रख्यात चित्रकार के चित्र का मूल्य वह जिस कपड़े पर और जिन रंगों से बना है, उनकी कीमतों बराबर थोड़े ही होगा। अपने माँ-बाप का पुराना फटा जूता कोई मातृ-पितृ-भक्त लड़का या लड़की बड़ी हिफाजत से अपने पास रख छोड़ेगी। उस जूते का वास्तविक मूल्य कुछ नहीं है, पर उस लड़के या लड़की के लिए वह खास मूल्य रखता है।

केवल व्यक्ति की दृष्टि से यदि हम मूल्य का विचार करें, तो एक ही चीज की हरएक व्यक्ति को एक-सी ही तीव्र अभिलाषा नहीं रहती। एक ही चीज के दो भिन्न मनुष्यों को भिन्न-भिन्न मूल्य हो सकते हैं। पैसे के समान सार्वत्रिक चलनेवाली और निश्चित कीमत की चीज भी सबको एक-सा सन्तोष नहीं दे सकती। किसी किसान को उसके पास का एक रुपया उसके पूरे कुटुम्ब की पूरे दिन की खुराक हो सकता है। शहर में काम करनेवाले किसी क्लर्क को एक रुपया याने उसका सिनेमा का शौक पूरा करने का जरिया होगा, पर किसी लखपती के हाथ में वही रुपया किसी होटल के कर्मचारी को या टैक्सी ड्राइवर को 'बख्शीश' देने में खर्च हो जायगा। इस पर से स्पष्ट हो जायगा कि वही रुपया यदि लखपती के पास से किसी किसान के हाथ में पहुँच जाय, तो उस किसान को अधिक संतोष प्रदान कर सकेगा, पर यदि वह किसान के पास से लखपती के पास पहुँचे, तो उसकी सन्तोष प्रदान करने की मात्रा कम हो जायगी।

कई बार तो एक ही व्यक्ति के हाथों में रहते हुए भी वस्तुओं के मूल्य एक-से नहीं रहते। मान लीजिये कि किसी लड़के के पास सात जलेबियाँ हैं। हरएक का एक-सा वजन है और उनमें एक-सा ही माल है। फिर भी एक जलेबी से जितना सन्तोष मिलेगा, उतना ही हरएक जलेबी से मिलेगा, ऐसा नहीं है। वह पहली जलेबी बड़े चाव से खायेगा। बाद की दूसरी या तीसरी भी वह शायद खाकर खुश होगा। पर बाद में वह जितनी जलेबियाँ खायेगा, उसके हरएक के बाद अधिक जलेबियाँ खाने की उसकी इच्छा क्रमशः कम होती जायगी और अन्त में वह एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच

जायगा कि अधिक जलेबियाँ खाने से उसे घृणा हो जायगी। अर्थात् जैसे-जैसे वह जलेबी खाता गया, वैसे-वैसे उसका मूल्य उसके लिए घटता गया। यह तो लखपती के पास के रुपये जैसे ही किस्सा हुआ। हमारे पास की वस्तुओं की संख्या जितनी अधिक होगी, उतना ही उस वस्तु का हमारे लिए मूल्य कम होगा।

अब कल्पना कीजिये कि ६ जलेबी खा लेने पर उस लड़के की जलेबी खाने की इच्छा तृप्त हो गयी है और उसकी प्यास बढ़ गयी है। ऐसी हालत में यदि उसके पास दूसरा लड़का पानी भरा गिलास लेकर पहुँच जाय, तो पहला लड़का खुशी से अपने पास की जलेबी देकर दूसरे के पास का पानी पीकर अपनी प्यास बुझा लेगा। पहले लड़के को सातवीं जलेबी के बनिस्बत गिलासभर पानी अधिक तृप्त कर सकेगा, पर दूसरे लड़के के लिए पहले लड़के की सातवीं जलेबी पहली ही है और इसलिए उसे वह अधिक संतोष प्रदान कर सकेगी। इस प्रकार का वस्तु-विनिमय—सातवीं जलेबी के एवज में एक गिलासभर पानी—दोनों पक्षों को अधिक फायदा, संतोष या समाधान हासिल कराता है, और यदि समाधान नापने का कोई जरिया ढूँढ़ा जा सके, तो पाया जायगा कि यद्यपि आदान-प्रदान की वस्तुओं के टोटल में आदान-प्रदान से कोई घट-बढ़ नहीं हुई है, फिर भी आदान-प्रदान के बाद दोनों पक्षों को अधिक समाधान या संतोष हासिल हुआ है। यही सब व्यापार की बुनियाद होनी चाहिए। किसीको नुकसान पहुँचाकर दूसरे को फायदा नहीं होना चाहिए।

परहितापेक्षी पैमाने

मानवीय मूल्य—सिक्कों द्वारा विनिमय करने की पद्धति के कारण हमारे सामने पेचीदी समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। हमारी आर्थिक पद्धति ऊटपटाँग बन जाती है। जमीनों में अन्न की काश्त करने के बजाय उनमें कारखानों के लिए कच्चे माल की काश्त करना शुरू हो गया है। चावल

की कमी के कारण लोग भूखों मर रहे हैं और उधर चावल की काश्त की जमीनों में साबुन की फैक्टरियों के लिए आवश्यक नारियल की काश्त हो रही है। मलाबार के कई गाँवों में धान की काश्त करीब २०% कम हो गयी है और वहाँ नारियल के झाड़ों के बन उठाये गये हैं। इन झाड़ों के नारियल साबुन बनाने के लिए मिलों को भेज दिये जाते हैं अर्थात् उन जगहों में अब धान के एवज में साबुन उगाया जा रहा है, और इधर देहाती चावल के अभाव में भूखों मर रहा है। इस हालत से यह स्पष्ट है कि केवल रुपयों-पैसों में कूती जानेवाली कीमत मनुष्य की सच्ची आवश्यकता की द्योतक नहीं मानी जा सकती।

केवल रुपये-पैसों या भौतिक सम्पत्ति पर अधिष्ठित व्यवस्था स्थल, काल का उचित महत्त्व नहीं महसूस करती। इस कमी के कारण मनुष्य या राष्ट्र हिंसा और विनाश की ऐसी तंग गली में पहुँच जाते हैं, जिसमें से निकलना उनके लिए मुश्किल हो जाता है। मनुष्य जितना अधिक संस्कृत होगा, उतना ही वह ऐसे अदूरदृष्टि और विनाशी मूल्यों के पैमानों से दूर रहेगा। इसलिए यदि कुछ शाश्वतता लानी हो, तो ऐसा पैमाना काम में लाना पड़ेगा, जो पैमाने का उपयोग करनेवाले मनुष्य से अधिक शाश्वत होगा। ऐसा पैमाना व्यक्तियों तथा व्यक्तिगत भावनाओं से अलग रहेगा। उसकी जड़ें वस्तुओं की शाश्वत व्यवस्था में पहुँची होंगी, इसलिए वह सच्चा और विश्वस्त रूप से मार्गदर्शक होगा। इसलिए ऐसी किसी भी व्यवस्था को शाश्वत बनने के लिए उसका ऐसे पैमानों पर अधिष्ठित होना जरूरी है।

नैतिक मूल्य—जो व्यक्ति नीति को अधिक महत्त्व देता है, उसके लिए वस्तुओं की रुपये-पैसों में मूल्य की कोई कीमत नहीं। मान लीजिये कि कोई डाकू एक बच्चे को मारकर उसके गले की सोने की चेन बेचने के लिए लाता है। उस चेन के पीछे का इतिहास मालूम होते हुए कौन उस चेन को खरीदेगा? उस गहने में केवल अमुक तोला सोना ही नहीं है, पर उस बच्चे के खून के पुट भी चढ़े हुए हैं। जिस किसीको

घालकों की हत्या से घृणा होगी, वह कभी उस चेन को नहीं खरीदेगा, फिर वह कितने भी सस्ते दामों में क्यों न मिलती हो।

इसी प्रकार विक्रयार्थ बाजार में आनेवाली हरएक वस्तु के साथ नैतिक मूल्य जुड़े ही रहते हैं। उन्हें हम नजरअंदाज कर ऐसा नहीं कह सकते कि यह तो रोजगार है। गुलामी या शोषित मजदूरी द्वारा तैयार की गयी चीजों पर अत्याचार के दोष का पुट चढ़ा ही रहता है। यदि हम वैसी चीजों को खरीदते हैं, तो जिस दोषयुक्त वातावरण में वे बनवायी जाती हैं, हम उसे कायम रखने के लिए सहायक ही होते हैं। इसलिए एक पैसे की भी चीज यदि खरीदनी हो, तो भी हम पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ती है। हमें सतर्कता से यह देखना चाहिए कि जिस परिस्थिति को हम स्वयं ज्ञानपूर्वक प्रोत्साहन नहीं दे सकते या गवारा नहीं कर सकते, वैसी परिस्थिति को निर्माण करने में हम सहायक तो नहीं होते हैं ?

नैतिक मूल्यों को ताक पर धर देने से तृष्णा, स्वार्थ और द्वेष का बाजार गर्म रहता है, जो जागतिक युद्ध छेड़ने में उपयुक्त कारण साबित हुए हैं। पहले जागतिक युद्ध के बाद 'विजेताओं ने' जर्मनी के उपनिवेश छीन लिये और उससे युद्ध में हुए नुकसान का हर्जाना भी माँगा।

इस बार फिर जापान के साथ जर्मनी भी हार गया है। उनके पेटेण्ट, तोड़े हुए बड़े-बड़े कारखाने आदि मित्र राष्ट्र आपस में बाँट ले रहे हैं। हमारे देश को भी उस लूट का कुछ हिस्सा जबरन मिलनेवाला है। इस प्रकार हमारे भी हाथ इस लड़ाई के खून से लांछित होनेवाले हैं और दोषी साम्राज्यवादियों के अन्याय, क्रूरता आदि पापों में हम भी सहभागी होनेवाले हैं। क्या ऐसे व्यवहार स्थायी व्यवस्था की बुनियाद बन सकते हैं ?

सामाजिक मूल्य—समाज को जो कुछ नफा-नुकसान होता है, उसे वह स्वयं आँक सकता है। लोगों से या वर्गविशेषों से समाज की जो सेवा की जाती है, उसकी बदौलत समाज में उन्हें एक खास इज्जत का स्थान मिल जाता है।

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
BANGALORE-1.
H.000325
X00Y

उदाहरणार्थ, पुराने जमाने में चारों वर्णों को समाज में जो दर्जा प्राप्त था, वह उनकी समाज के प्रति सेवा के ऊपर अवलम्बित था ! शूद्र केवल अपनी निजी जरूरतें ही पूरी करने का खयाल रखता था, इसलिए उसे समाज में कोई विशेष दर्जा प्राप्त नहीं था। वैश्य भी अपनी निजी जरूरतें पूरी करने के लिए ही संपत्ति एकत्रित करने की फिराक में रहता था, पर ऐसा करते हुए भी प्रसंगवशात् कुछ सामाजिक सेवा कर देता था, इसलिए उसे शूद्र से कुछ ऊँचा स्थान दिया गया था। क्षत्रिय का स्थान काफी इज्जत का था, क्योंकि उसे जिन लोगों की रक्षा का भार सौंपा जाता था, उनके प्राणों को वह अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय समझता था। लेकिन एक ब्राह्मण तो किसी ध्येय की लगन के कारण ही अपना कर्तव्य निःस्वार्थ बुद्धि से किये जाता था, फिर वैसा करने में उसे कितना भी शारीरिक परिश्रम क्यों न करना पड़े। इसलिए राजा-महाराजा तक उसकी चरण-रज शिरोधार्य मानते थे। कई हजार वर्ष पूर्व ये सांस्कृतिक मूल्य हमारे देश में निर्माण किये गये थे, पर खेद है कि आजकल की सांपत्तिक तड़क-भड़क की चकाचौंध में ये मूल्य हम भूल गये हैं। हमें अपने भरसक यही कोशिश करनी है कि हमें विरासत में मिले मूल्यों या पैमानों को हम चालू करें, क्योंकि केवल उन्हींके द्वारा स्थायित्व हासिल हो सकता है।

आध्यात्मिक पैमाने—एक बार यहूदियों का सबसे बड़ा बादशाह डेविड अपने सबसे बड़े दुश्मन फिलिस्टिनों द्वारा अपनी राजधानी बेथलेहेम के बाहर घेर लिया गया था। अपने पड़ाव से डेविड शत्रु के पड़ाव के उस पार अपनी राजधानी के बाहर का कुआँ देख सकता था। भावना-विवश होकर उसके मुख से निकल गया, "कितना अच्छा होता, यदि मुझे कोई उस कुएँ का पानी पिलाता !" उसके कुछ बहादुर सिपाहियों ने उसके ये शब्द सुने और वे सचमुच उस कुएँ का पानी प्राप्त करने के लिए चल पड़े। शत्रु के डेरे में से जाने में उन्होंने अपनी जान जोखिम में डाली, कुएँ तक पहुँच गये और कुएँ से एक पानी का लोटा भर लाये, जिसे डेविड के सामने रख दिया। राजा को उन सिपाहियों की राजभक्ति

देखकर बड़ी खुशी हुई, क्योंकि उन्होंने अपनी जान को खतरे में डालकर राजा की एक अदना मुराद पूरी की। पर राजा की आध्यात्मिक दृष्टि को उस लोटे में ठंडा जल नहीं दिखाई दिया। उसे उसमें उन लोगों का खून दिखलाई दिया, जो उसे कुएँ से भरकर लाये थे। इसलिए उसने लोटा उठाकर कहा, "मैं इसे कैसे पी सकता हूँ ? इसमें पानी नहीं, बल्कि मेरे प्यारे सिपाहियों का खून है ! यदि मैं इसे पीऊँ, तो वह मुझे शापरूप हो जायगा। इसलिए इसे मैं उनकी ओर से इसे नीचे उँड़ेलकर ईश्वरार्पण करता हूँ।"

जितने परिमाण में हमारे कामों में इस प्रकार की आध्यात्मिक दृष्टि रहेगी, उतने ही परिमाण में हमारा जीवन अधिक पवित्र होगा और स्थायी व्यवस्था की नींव अधिकाधिक मजबूत होगी, ताकि अहिंसा द्वारा मानव सुख और शान्ति प्राप्त कर सके।

मूल्य या पैमाने

- स्वार्थी
  - शारीरिक — केवल प्राथमिक आवश्यकताएँ पूरी करता है
  - भौतिक — कृत्रिम आवश्यकताएँ पूरी करता है
  - भावनात्मक — बौद्धिक इच्छाएं पूरी करता है
- निःस्वार्थी
  - नैतिक
  - सामाजिक
  - आध्यात्मिक

मूल्यांकन : ९ :

हम मूल्य-मापन का कौनसा पैमाना किस प्रकार इस्तेमाल करते हैं, इससे हम प्रगति की किस मंजिल पर हैं, इसका अंदाज लग सकता है। जिस मूल्य-मापन का लोगों में चलन होगा, उससे उस राष्ट्र के लोगों की संस्कृति सदियों तक प्रभावित होती रहेगी। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि हम बहुत सोच-समझकर अपने मूल्यांकन का पैमाना निश्चित करें।

मिस्र, बैबिलोन, यूनान और रोम की संस्कृतियाँ नामशेष हो गयी हैं। कुछ सदियों के क्षणिक और चौंधिया देनेवाले अस्तित्व के बाद वे नष्ट हो गयीं, क्योंकि उनकी बुनियाद स्वार्थी और क्षणभंगुर मूल्यांकन के पैमानों पर थी। उनका समूचा संगठन और पद्धति गुलामी की प्रथा और अपने अधीन देशों से जबरदस्ती लूट वसूल करने पर अधिष्ठित थी। यूनान और रोमन लोगों ने अपने भावनाप्रधान और स्वकेंद्रित दृष्टिकोण और अपने शिल्पशास्त्र, कला और साहित्य के मूल्यों की अमिट छाप अपने पीछे रख छोड़ी है, इसमें कोई सन्देह नहीं। उन्हें उनके वंशज अपने पुरखों की एक विरासत भले ही मानें, पर अब उनकी संस्कृति में कोई जान नहीं रह गयी है।

इसके विरुद्ध चीन और हिन्दुस्तान की संस्कृतियाँ हैं। ये दोनों यूनान और रोमन संस्कृतियों जितनी ही पुरानी अथवा उससे भी अधिक पुरानी हैं। वे परोपकारी और ध्येयवादी मूल्यों पर अधिष्ठित हैं, इसलिए आज भी वे अपना तेज प्रकट कर रही हैं और उनमें उनके संगठन की अहिंसा और स्थायित्व के चिह्न आज भी दिखाई पड़ रहे हैं। आधुनिक भौतिकवादी 'पंडित' भले ही पौर्वात्य संस्कृति की धर्मप्रधान और पारलौकिक प्रवृत्तियों की खिल्ली उड़ायें, पर इतनी बात तय है कि उनसे यह सिद्ध होता है कि यहाँ के मनुष्य प्रगतिशील मानव हैं, न कि दूसरों के शिकार

करनेवाले हिंस्र पशु। इन संस्कृतियों की लम्बी हस्ती से यह सिद्ध होता है कि हमारे पुरखों ने किस दूरंदेशी से शाश्वत समाज की बुनियाद के लिए मूल्य-मापन के किन मानदंडों का अवलम्ब किया था। यदि हमें भी उनकी अहिंसा और शाश्वतता की बुनियाद पर काम करना हो, तो हमारे मूल्य-मापन के मानदण्ड भी तात्कालिक आवश्यकताएँ पूरे करनेवाले न होकर परोपकारी और ध्येयवादी होने चाहिए। इस समय भविष्यकालीन योजनाओं के बारे में काफी चर्चा हो रही है और राजकीय संघटनों में भी काफी विचारों की उथल-पुथल मची हुई है, इसलिए मूल्य-मापन के किन मानदंडों को अपनाना चाहिए, इसके बारे में हमें काफी सतर्क रहना चाहिए।

बदनसीबी से दुनिया की रंगभूमि पर प्रमुख पार्ट अदा करनेवाले पक्ष संपूर्णतया नहीं, तो भी प्रधानतया रुपये-पैसे पर अधिष्ठित मूल्यों पर काफी जोर दे रहे हैं। ये मूल्य क्षणभंगुर हैं और स्थायित्व की छाप रख सकें, ऐसे नहीं हैं। आजकल सब जगह 'जीवन के उच्च पैमाने', 'राष्ट्रीय आय को बढ़ाना', 'उत्पादन शक्ति और कार्यक्षमता बढ़ाना', 'मौजूदा स्पर्धाप्रधान दुनिया में फायदे में रहना' आदि रोचक नारे सुनाई देते हैं। आजकल की अर्थशास्त्रीय विचारधारा मुनाफा, कीमत, क्रयशक्ति और विदेशों से व्यापार की बलुही भित्ति पर अधिष्ठित है। मनुष्य अन्य प्राणियों से किस प्रकार भिन्न है, इस बात का कोई विचार ही नहीं है। प्रत्युत यदि कभी कोई मानवीय मूल्य या आध्यात्मिक मूल्य का जिक्र कर बैठता है, तो उसकी खिल्ली उड़ाने की भयानक प्रवृत्ति हममें मौजूद है। इसलिए सतर्क रहने की जरूरत है।

पुरातन काल से जो चीजें बहुमूल्य मानी जा रही हैं, उनकी कीमत कूतने के लिए तथाकथित आधुनिक मानदंड यदि हम काम में लायें, तो कैसा विकृत चित्र दिखाई देगा, इसकी कुछ मिसालें हम यहाँ दे रहे हैं।

चीनी मिट्टी के बर्तनों के कारखाने का एक डाइरेक्टर कभी-कभी दृष्टि में आनेवाला ऐसा चीनी बर्तन देखकर, जिस पर हाथ से नक्काशी की

हुई है, कहेगा, "हैं ! क्या इस बर्तन को बनाने में इतने दिन लगे ? मैं तो अपने कारखाने में ऐसे बर्तनों की कई सौ जोड़ियाँ एक महीने में बनवा दे सकता हूँ।"

अजंता की गुफाओं में दुनिया के सर्वोत्तम रंगीन भित्ति-चित्र मौजूद हैं, जिन्हें बनाने में संभवतः कई सदियाँ लगी होंगी। पर उन्हें देखकर आज का लीथोग्राफी का विशेषज्ञ कहेगा कि मैं इनकी हजारों नकलें कुछ हफ्तों में बना दे सकता हूँ।

विस्तृत शालिमार बाग को देखकर तिलहनों का कोई सौदागर कहेगा, "कितनी बेवकूफी है ! इतनी बड़ी जगह में यदि काश्त की गयी होती, तो कई हजार मन मूँगफली निकल सकती थी !"

पुराने भूर्जपत्रों पर लिखे हस्तलिखित ग्रन्थों ने कई दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रेरणा दी है और कई शाश्वत संस्कृतियों को बनाया है। पर यदि कोई प्रकाशक उन्हें देखे तो वह कहेगा, "कैसी रद्दी चीज पर ये लिखे गये हैं ! यदि मुझे कहा जाय, तो मैं इसे प्रति कापी ५ रुपये के हिसाब से अच्छे बॉंड पेपर पर छपवा दे सकता हूँ।"

ईरानियों के होटलों को संगमरमर के मेजपोश सप्लाई करनेवाला ठेकेदार आगरा की एक कब्र के लिए बे-हिसाब संगमरमर इस्तेमाल किया हुआ देखकर बहुत अफसोस जाहिर करेगा और अपनी आदत से लाचार होकर वह झट यह हिसाब लगाने बैठ जायगा कि ताजमहल के बनाने में लगे संगमरमर से कितने हजार संगमरमर के मेज बने होते !

एलोरा के अखंड पत्थर में खुदे तीन मंजिलवाले मंदिर देखकर सीमेंट-कांक्रीट का विशेषज्ञ इंजीनियर हैरत में पड़ जायगा कि आखिर इन्हें बनाने में इतना समय क्यों बरबाद किया गया ! वह उन मन्दिरों के बनानेवालों के प्रखर भूगर्भ-विज्ञान की कल्पना भी नहीं कर सकेगा कि उन्होंने पत्थर की ठीक परीक्षा करके ऐसा पत्थर चुना कि जिसमें इतना बड़ा खुदाई का काम बहुत अच्छी तरह हो सके। साथ-ही-साथ कई साल तक उस काम में लगे रहने की उनकी लगन का भी उसे कोई मूल्य

नहीं। वह तो खुद को ही बड़ा धन्य इंजीनियर समझेगा, क्योंकि वह एक के ऊपर दूसरा, इस प्रकार रखे हुए टीन के डिब्बों के माफिक बने ६० मंजिल से भी अधिक ऊँचे मकान, इन 'पुराने ढंग' के मन्दिरों की अपेक्षा कितने कम समय में बना दे सकता है। वह तो शायद तीन महीनों के अन्दर एलोरा के कैलास मन्दिर की हूबहू कॉपी बना देने का दावा भी कर दे और सो भी उस मन्दिर को लगे कुल खर्च के अल्पांश में हो।

घुड़दौड़ के घोड़ों का मालिक यदि इत्तिफाक से सेवाग्राम पहुँच जाय, तो वह शायद पहले-पहल गांधीजी की कीमत कूतने के लिए उनके मुँह का ही निरीक्षण कर उनके कितने दाँत हैं (हालाँकि उस समय उन्हें एक भी दाँत नहीं था।), यह देखकर और उन्हें बहुत बढ़ा हुआ करार देकर पिंजरापोल में भेज देने की सिफारिश करे!

इन मूल्यांकनों में उतनी ही मूर्खता भरी है, जितनी कि एक सुनार के उस कृत्य में कि वह किसी बगीचे में जाकर वहाँ के हरएक फूल को अपने पास की कसौटी पर घिसकर उसकी परीक्षा करने की कोशिश करे— क्योंकि उसे यह मालूम नहीं है कि परीक्षा के दूसरे भी जरिये होते हैं।

ये सब हास्यास्पद घटनाएँ इसलिए सम्भावित होंगी, क्योंकि एक व्यवस्था की कसौटी दूसरी व्यवस्था पर लगायी जाती है। उदाहरणार्थ, घुड़दौड़ के घोड़ों का मालिक परोपजीवी व्यवस्था का अंग है, पर वह अपने ही मानदण्ड से उस व्यक्ति का मूल्यांकन करना चाहता है, जो सेवाप्रधान व्यवस्था में आता है।

ऊपर जिस तरीके से ये मूल्यांकन दिये गये हैं, उस पर से ऐसा मालूम होता है कि ये प्रत्यक्ष व्यवहार में कहीं नहीं अपनाये जाते होंगे। पर आश्चर्य की बात तो यह है कि इस प्रकार का मूल्य-मापन प्रत्यक्ष व्यवहार में होता है और वह उन लोगों के द्वारा किया जाता है, जो खुद को दुनिया के प्रमुख विश्वविद्यालयों के स्नातक कहलाते हैं। ये विश्वविद्यालय आधुनिक उद्योगपतियों का—जो पहले तीन वर्गों में याने परोपजीवी, आक्रामक और पुरुषार्थयुक्त व्यवस्था के वर्गों में पड़ते हैं—समर्थन करनेवाले पण्डित पैदा करने की भूमि बने हुए हैं।

वे हरएक प्रश्न का हल इस कसौटी पर कसकर देखेंगे कि "क्या यह पुराना है !" यदि कोई माँ अपने बच्चों के लिए विशुद्ध घी का हलुआ बनाती हो, तो हमारे विश्वविद्यालयीन विद्या-विभूषित पंडित उससे दलील करेगा, "यदि आप इस शुद्ध घी में थोड़ा सा वनस्पति घी नहीं मिलायेंगी, तो दुनिया के बाजारों की स्पर्धा में आप कैसे टिकेंगी ?" वह सलाह देगा कि उस हलुए की कीमत कूतने में उसे अपने लगे समय की भी कीमत जोड़नी चाहिए। शास्त्रीय अचूकता की दृष्टि से यह नितांत आवश्यक है। बाद में फिर वह कहेगा, 'अब बाजार के हलुए के भाव से' इसकी तुलना करें। बेचारी माँ कहेगी, "ये दुनिया के बाजार कहाँ हैं ? वे कहाँ लगते हैं ? मैं तो यह हलुआ अपने बच्चों के खाने के लिए बना रही हूँ और मैं चाहूँगी कि उसमें अधिक-से-अधिक शुद्ध और साफ चीजें रहें। मुझे हलुए के बाजार भाव से अथवा उसे शास्त्रीय अचूक दृष्टि से कूतने से कोई सरोकार नहीं। और मैं अपने समय की क्या कीमत लगाऊँ ? मेरा तो सारा जीवन ही अपने बच्चों की परवरिश में लगनेवाला है।" बेचारा विश्वविद्यालयीन पंडित इस 'जंगली, अशिक्षित' माँ के प्रगाढ़ अर्थशास्त्र-विषयक अज्ञान पर स्तंभित ही रह जायगा। घर में सेवाप्रधान व्यवस्था का अमल रहता है और माँ उसमें शराबोर रहती है; इसलिए वह अपनी हरएक कृति उसी मानदंड से कूतती है; पर यह विश्वविद्यालयीन पदवी-धारी आक्रामक व्यवस्था के मानदंड का उपयोग जब सेवाप्रधान व्यवस्था में करने लग जाता है, तब मजाक का विषय बन जाता है। प्रयोगशालाओं में जब किसी खास विषय पर अनुसंधान करना होता है, तब उसके लिए एक कृत्रिम तौर से अनुकूल वातावरण बना लिया जाता है और वहाँ जो बात सत्य साबित होती है, वह खुलेआम, जहाँ वैसा कृत्रिम वातावरण बनाना संभव नहीं, खरी नहीं मालूम होती।

एक पदार्थ-विज्ञानशास्त्रज्ञ, जिसने अपनी सुसज्जित प्रयोगशाला में गतिशास्त्र के प्रयोग कर लिये हैं, भले ही कहे कि कागज के टुकड़े पृथ्वी की ओर उतनी ही गति से—याने ३२ फुट फी सेकंड के हिसाब से—

गिरेंगे, जितने कि सीसे या अन्य किसी धातु के टुकड़े। पर एक मामूली विद्यार्थी उसे चुनौती देकर कह सकता है कि "महाशयजी, आपका दिमाग घूम गया है। मैं अपने गाँव के कुएँ में पत्थर फेंकता हूँ और देखता हूँ कि वे पानी में गिरकर आवाज करते हैं। मैंने कागज के टुकड़े भी फेंककर देखे हैं, पर वे सीधे पानी तक जाने के बजाय हवा में ही उतराते रहते हैं और कभी-कभी कुएँ के बाहर भी निकल जाते हैं। मैंने कागज के पतंग हवा में उड़ाये हैं। वे कभी-कभी इतने ऊँचे पहुँचे हैं कि दिखना मुश्किल हो जाता है। क्या आप मुझे सीसे के भी पतंग उड़ाकर दिखा सकेंगे?" सच बात तो यह है कि उस शास्त्रज्ञ की बात प्रयोगशाला में की हुई निर्वात ट्यूब में, जब कि हवा का विरोध शून्य रहता है, सच है; पर प्रयोगशाला के बाहर की दुनिया में उस बच्चे का विधान सच है। किसी भी समस्या का हल ढूँढ़ने के लिए कई बातों पर विचार करना पड़ता है, तभी उस समस्या का सही हल मिलता है। कई बार ऐसा होता है कि जो मूल्यांकन प्रत्यक्ष नहीं दीखता, वही अधिक स्थायी होता है और जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है—जैसा रुपये, पैसों में—वह दूसरे दृष्टिकोणों से बहुत कम महत्त्व का होता है।

एक अर्थशास्त्री कहेगा कि चीजों के सस्ते और महँगे होने से उनकी खपत पर असर पड़ता है। यदि चीज सस्ती हुई, तो उसकी अधिक खपत होती है और यदि महँगी हुई, तो कम। क्या यह त्रिकालाबाधित सत्य है? सच तो यह है कि रोजमर्रा के व्यवहार में अर्थशास्त्री की उपर्युक्त विचारधारा को कहीं स्थान नहीं। यदि किसी स्त्री को साड़ी खरीदनी हुई, तो क्या वह यह देखेगी कि सस्ती-से-सस्ती कौन-सी साड़ी है? उसकी अपनी पोत की, रंग की, किनारी की कुछ कल्पनाएँ होंगी, और वे जिस साड़ी में अधिक-से-अधिक उतरेंगी, उसे ही वह पसन्द करेगी। उसी प्रकार यदि कोई राजा चाहे कि उसका सानी कोई न रहे और वह जैसी टाई लगाता है, वैसी दूसरा कोई भी लगाया हुआ न दिखे, तो वह उस टाई के व्यापारी के पास की सारी-की-सारी टाई खरीद लेगा। उसी

प्रकार मिट्टी के तेल का कोई व्यापारी वनस्पतिजन्य तेल से जलनेवाली बत्ती का पेटेंट बहुत बड़ी रकम देकर खरीद लेगा और उसे अपनी दराज में बन्द करके रख देगा, ताकि उसके मिट्टी के तेल की खपत में खलल न पड़े। इससे यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के कई सिद्धान्त प्रत्यक्ष व्यवहार में जैसे के तैसे लागू नहीं किये जा सकते।

जिस मानदण्ड या कसौटी का उपयोग करना हो, वह उस खास चीज के लिए तो उपयुक्त होनी ही चाहिए, पर साथ-ही-साथ वह चीज जिस व्यवस्था की द्योतक है, उस व्यवस्था में भी आमतौर से लागू होनी चाहिए। पश्चिमी पद्धति का लिबास पहना हुआ आदमी कह सकता है कि जब मिल का कपड़ा १२ आने गज मिलता है, तब १ रुपये गज बिकनेवाली खादी महँगी है। यहाँ जो मानदण्ड लगाया गया है, वह व्यवस्था के अनुकूल नहीं है। खादी-प्रेमी यदि देहात का रहनेवाला हुआ, तो वह स्वयं कपास बोता होगा, चुनता होगा, फुरसत के समय उसे साफ कर उसका सूत कातता होगा और सम्भवतः अपने पड़ोसी देहाती जुलाहे से बुनवा भी लेता होगा। वह अपने कपड़े स्वयं धोयेगा, फर्श पर बैठेगा और उसकी तमाम आदतें ऐसी होंगी, जो ग्रामीण व्यवस्था के अनुकूल होंगी। पर उसके टीकाकार को शायद अपनी पोशाक सिलाने के लिए काफी दाम देने पड़ते होंगे, पेशेवर धोबी के यहाँ धोने के लिए देने पड़ते होंगे, कपड़ों की इस्त्री न बिगड़े, इसलिए वह फर्श पर बैठने के बजाय कुर्सी पर बैठता होगा, फिर काम करने के लिए मेज आ जाती है और फिर चार दोस्तों को बैठने के लिए और चार कुर्सियाँ भी आ ही जाती हैं। इस प्रकार उसका सारा जीवन जटिल और खर्चीला होता जाता है। इस दृष्टि से देखा जाय, तो कौन कहेगा कि चार आना प्रतिगज अधिक पड़नेवाली खादी महँगी है? हम किसी वस्तु की कीमत की एक मद उठाकर उसकी तुलना दूसरी परिस्थिति की वस्तु की कीमत से नहीं कर सकते। कई बार हीरे की कीमत, जिस अँगूठी में वह जड़ा जाता है, उसके कारण अधिक होती है। हमें हरएक व्यवस्था की समूची

पार्श्वभूमि का अध्ययन करना है। अब तक हमने मूल्यांकन को उपभोक्ता की दृष्टि से ही देखा।

अक्सर यह सवाल पूछा जाता है कि "क्या इस यांत्रिक युग में ग्राम-उद्योग टिक सकते हैं?" इस प्रश्न का विस्तारपूर्वक जवाब तो आगे चलकर दिया जायगा। यहाँ इतना स्पष्ट कर देना ठीक होगा कि 'ग्राम-उद्योग' केवल उत्पादन के एक तरीके का द्योतक नहीं है। वे एक खास अर्थव्यवस्था के द्योतक हैं और उसके अविभाज्य अंग हैं; ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार केन्द्रित उत्पादन एक दूसरी अर्थव्यवस्था का द्योतक तथा उसका अविभाज्य अंग है। इसलिए ऊपर के प्रश्न का सच्चा स्वरूप यह होगा कि हम किस व्यवस्था को अच्छी समझते हैं। हमारे ध्येय के अनुसार हम व्यवस्था पसंद करेंगे और हमारे जीवन में मूल्यांकन की कौनसी पद्धति हम स्वीकार करते हैं, इस पर हमारा ध्येय अवलम्बित रहेगा। सारांश, मूल्य और मूल्यांकन की पद्धति, ये सामाजिक प्रगतिरूपी गाड़ी के दो घोड़े हैं। मनुष्य को अहिंसा या शाश्वतता की ओर ले जाना या हिंसा या क्षणभंगुरता की ओर ले जाना इन घोड़ों के ऊपर अवलम्बित है। इसलिए इन दोनों के चुनाव के बारे में हमें बहुत सतर्क रहना चाहिए। इनके चुनाव में कहीं ढील या लापरवाही हुई, तो सर्वनाश निश्चित ही समझिये।

त्रावणकोर में स्क्रूपाइन नामक घास से बहुत सुन्दर, नरम और एकदम सफेद चटाइयाँ बनायी जाती हैं। इस भाग में हरएक मकान अपने स्वतंत्र जमीन के टुकड़े में रहता है और उसके चारों ओर थोड़ी-सी ऊँचाई की सरहद निदर्शक दीवालें रहती हैं। इन दीवालों पर यह स्क्रूपाइन घास लगायी जाती है। एक बार जब उस भाग में मैं दौरा कर रहा था, तब ये चटाइयाँ कैसे बनायी जाती हैं, इसका निरीक्षण करना तय किया। उस गाँव के चटाई बनानेवालों का मुखिया—एक मुसलमान—हमारे पास आया और चटाइयाँ बनाने की विभिन्न क्रियाओं की और उनमें स्त्री, पुरुष और बच्चे भी कैसे जुटे रहते हैं, इनकी बड़ी रोचक पद्धति से वह जानकारी देने

लगा। वह अपने पड़ोस के तीन-चार अन्य मकानों में भी ले गया और उसने हमें लोगों की काम करने की पद्धति बतायी। यह सब करते हुए वह हमसे बार-बार यही सवाल पूछता रहता था कि "हमारे पुरखा यही धंधा करते आये और उन्हें ऐसे दो मंजिलवाले पक्के मकान बनवा सकने लायक कमाई हो सकती थी। हम आज भी वही धंधा कर रहे हैं, फिर क्या कारण है कि हमें उन मकानों की मरम्मत की भी कूवत नहीं है? हमारा धंधा इतना क्यों बैठ गया?" इतना सब मुआयना करते तक दोपहर का समय हो गया और इस मुखिया ने चाहा कि हम उसीके मेहमान बनें। अपने दो ब्राह्मण साथियों से मैंने पूछा कि उनकी क्या राय है। उन्होंने कहा कि यदि भोजन सम्पूर्ण निरामिष हो, तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं। मुखिया ने कहा, "साहब, गोश्त खाने की हमारी इच्छा तो बहुत होती है, पर हमारी इतनी कमाई नहीं कि हम उसे खायँ। इसलिए लाचारी से हम निरामिष भोजी बन गये हैं। दूसरी बात यह है कि चूँकि आप लोगों के आने की कोई पूर्वसूचना नहीं थी, इसलिए जो रसोई बनी होगी, उसीसे आपको संतोष करना होगा। सम्भव है कि आपको मामूली चावल, दाल और अचार ही खाना पड़े। पर आप अवश्य पधारें, जिससे मुझे निहायत खुशी होगी।" उसका विशेष आग्रह देखकर और उसकी रहन-सहन देखने के कुतूहलवश हम लोगों ने उसका निमन्त्रण स्वीकार किया। उसके यहाँ जाकर हम लोग हाथ-मुँह धोने लगे और वह बरामदे में हम सबकी बैठने की व्यवस्था करने में जुट गया, पर बार-बार वह यह प्रश्न पूछे ही जा रहा था कि उसके इस पुराने व्यवसाय की अवनति क्यों हुई। मैं सोच ही रहा था कि उसे क्या जवाब दूँ कि उसने हमें भोजन के लिए बुलाया। मुझे प्रधान मेहमान समझकर मेरा आसन बीच में लगाया गया था और मेरे दोनों साथियों का मेरी दोनों ओर। मेरे साथियों को स्क्रूपाइन की चटाइयाँ दी गयी थीं और मेरा विशेष आदर करने की दृष्टि से मेरे लिए जो चटाई बिछायी गयी थी, उसे देखकर मैंने एकदम कहा, "अब मेरे खयाल में आ गया कि आपका धन्धा क्यों बैठ गया है। आपका

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
BANGALORE-1.

धन्धा बैठने का कारण है, आपके मूल्यांकन का गलत तरीका।" वह बड़ी नम्रता से कहने लगा कि मैं अपना मतलब अधिक स्पष्ट करूँ। मैंने उससे पूछा, "मेरे साथियों के लिए जो आसन लगाये गये हैं, वे आप कहाँ से लाये?" उसने कहा, "ये आसन हमारे खुद के बनाये हुए हैं।" फिर मैंने उससे पूछा, "मेरे लिए जो यह शेर की तस्वीर-वाली चटाई लगायी गयी है, यह कहाँ से आयी?" उसने कहा, "उसे मैंने बाजार से खरीदा और वह जापान में बनी हुई है।" तब मैंने उसे समझाते हुए कहा, "देखिये, मुझे मुख्य मेहमान समझ मेरी खास आवभगत करने के लिहाज से आपने यह जापानी चटाई मेरे लिए लगायी और अपनी खुद की बनायी हुई चटाइयाँ आपने मेरे साथियों के लिए लगायीं। इसका मतलब यह हुआ कि आप स्वयं अपने माल की कद्र कम करते हैं और जापानी माल की अधिक। यदि आप ही ऐसा करते हैं, तो दूसरों को उसके लिए क्योंकर दोष दे सकेंगे? आपके समान अन्य लोग भी यदि जापानी चटाइयों की अधिक कद्र करेंगे, तो वे देशी चटाइयाँ खरीदना

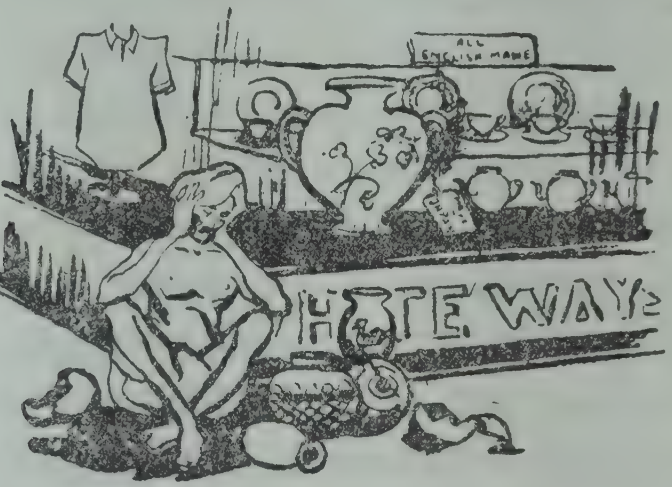

चित्र नं० १३. विदेशी वस्तुएँ इस्तेमाल करने से देश में बेकारी बढ़ती है।

बन्द ही कर देंगे। और जब आपके पुराने ग्राहक इस प्रकार टूट जायेंगे, तब आपका धन्धा कैसे पनप सकेगा? इस प्रकार क्या आप स्वयं अपना

धन्धा नष्ट करने के जिम्मेदार नहीं बन जाते ?" उसने हाथ जोड़ते हुए हमारी दलील मान ली और जापानी चटाई समेटकर दूसरी खुद की बनायी स्क्रूपाइन की चटाई लगा दी।

सारे मुल्क में क्या हालत है, इसका यह संक्षेप में द्योतक है। हमारे मूल्यांकन के पैमाने दूरगामी नहीं हैं। हम बहुधा कम कीमत के लोभ में पड़कर कोई भी चीज खरीदने पर आमादा हो जाते हैं, पर हम यह नहीं सोचते कि उससे हमारे आर्थिक और सामाजिक ढाँचे पर कितना गहरा घाव होगा। हमारे पड़ोसियों की बनायी हुई चीजों का सम्पूर्ण मूल्य उनकी पैसों की कीमत में नहीं आँका जा सकता। बहुत बार तो पैसों में कूती हुई कीमत सबसे कम महत्त्व की रहती है, पर बहुधा उसीके आधार पर हम कोई चीज खरीदें या नहीं, यह तय करते हैं। रुपयों-पैसों में कीमत कूतने की आदत पड़ने से आदमी की दूरदृष्टि मन्द हो जाती है और वह खुद बैठे हुए डाल पर ही कुल्हाड़ी मारने लगता है अर्थात् स्वयं अपना सर्वनाश कर लेता है। इसलिए समाज में स्थिरता निर्माण करने के लिए बहुत दूरंदेशी से काम लेने की जरूरत है। आज की अड़चन दूर करना, यही हमारा मकसद नहीं होना चाहिए, पर उसे हल करने से उसका समाज-व्यवस्था पर दूरगामी क्या परिणाम होगा, यह सोचना चाहिए। हरएक व्यक्ति की क्रिया का समाज पर कुछ-न-कुछ असर पड़ता ही है, पर हममें से बहुतेरों को वह असर देखने की दृष्टि नहीं प्राप्त हुई रहती है।

एक सहकारी संस्था का मन्त्री बड़े अभिमान से मुझे अपना काम दिखा रहा था और कह रहा था कि हमारे सदस्यों की शहद की बिक्री का प्रबन्ध हो जाने से उन्हें बहुत फायदा हुआ। वह मुझे एक ऐसे खेत में ले गया, जिसके मालिक ने पालतू मधुमक्खियों के तीस कुनबे मामूली मिट्टी के घड़ों में रख छोड़े थे। वहाँ की मक्खियाँ बहुत फुर्ती से काम करती हुई दिखीं। वह किसान सैकड़ों पौंड शहद समिति में बिक्री के लिए भेजता रहता था। यह सब वर्णन सुन और देखकर मुझ पर काफी गहरा असर हुआ और मैं मन-ही-मन सोचने लगा कि इस समिति की बदौलत

बेचारे गरीब किसान को काफी कमाई होती है। इतने ही में उस किसान की एक छोटी लड़की दौड़ती हुई वहाँ आयी। मैंने उससे पूछा, "ये मक्खियाँ क्या कर रही हैं?" उसने कहा, "वे शहद बना रही हैं।" फिर मैंने पूछा, "क्या तुम्हें शहद अच्छा लगता है?" ऐसा मालूम पड़ा कि

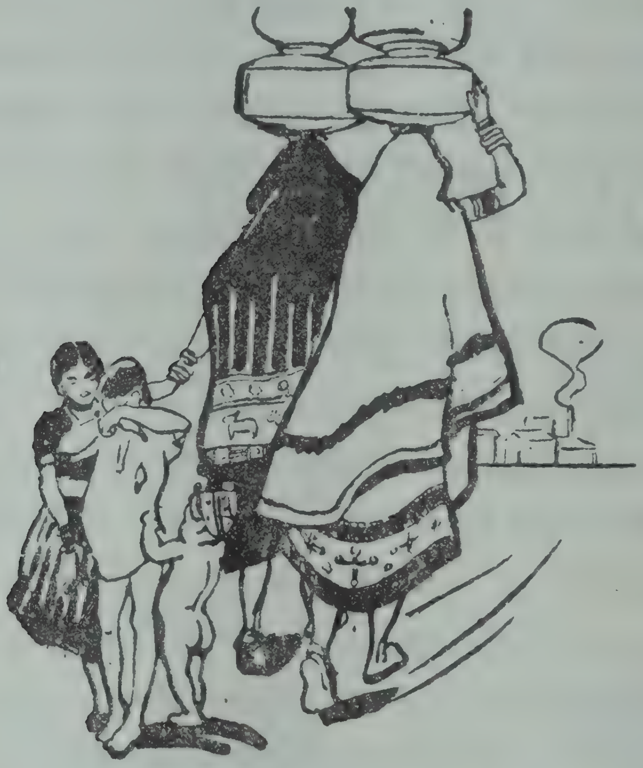

चित्र नं० १४. देहातों का दूध शहरों में जाता है और देहातों के बच्चे इस पौष्टिक खुराक से वंचित रह जाते हैं।

मेरा सवाल उसकी समझ में नहीं आया। इसलिए मैंने उसे दूसरे शब्दों में दोहराया, "क्या तुम्हें शहद नहीं भाता?" उसका जवाब सुनकर तो मैं चकरा गया। उसने कहा, "शहद कैसा लगता है, यह मुझे नहीं मालूम।" मैंने किसान से पूछा, "क्या आप अपने बच्चों को शहद नहीं खाने को देते?" उसने अपने खयाल से बिलकुल पूर्ण उत्तर दिया। उसने कहा, "समिति में १ रु० पौंड के हिसाब से बिकनेवाला शहद मुझे अपने बच्चों को खिलाना

कैसे पुसा सकता है ?" यह जवाब सुनकर समिति के काम के बारे में मेरा जो अनुकूल अभिप्राय हो गया था, वह एकदम नष्ट हो गया और मैंने मन्त्री की ओर मुड़कर कहा, "चूँकि यह बच्ची शहद का स्वाद नहीं जानती, इसलिए आपका काम बेकार हो गया है। ऊँचे दाम लगाकर आप इस गरीब के बच्चों के मुँह का शहद छीन ले जाते हैं और उसे ऐसे अमीरों को देते हैं, जिनके पास अन्य खाद्य पदार्थों की भरमार है।" क्या दूध, क्या अंडे और क्या अन्य खुराक की चीजें, सबका ही यही किस्सा है। पश्चिमोत्तर सरहद प्रान्त में एक जमाने में अंडों की काफी पैदाइश होती थी और उनकी स्थानिक खपत भी काफी थी। पर जब से वहाँ रावलपिंडी, अम्बाला, क्वेटा आदि फौजी छावनियाँ पड़ीं, तब से अंडों की स्थानिक खपत बहुत कम हो गयी और पैसे के लोभ से वे सब इन फौजी छावनियों में जाने लगे।

इससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि केवल रुपयों-पैसों में कीमत कूतने की आदत पड़ जाने से दूसरे ऊँचे मूल्य कैसे दृष्टि के ओझल हो जाते हैं और इस व्यवहार से केवल एक ही पक्ष को फायदा होता है और दूसरे को नुकसान। जैसा कि हमने जलेबीवाले उदाहरण में देखा कि केवल अतिरिक्त चीजों का ही आदान-प्रदान हो, तो दोनों को फायदा होता है, अन्यथा एक पक्ष को गहरा सामाजिक नुकसान होता है, जो उसी समय स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देता। १९४३ में बंगाल में जो भीषण अकाल पड़ा, उसकी जड़ में यह रुपयों-पैसों में कीमतें कूतने की आदत ही थी। उसकी बदौलत लोगों के मुँह का निवाला छीन लिया गया और उन्हें दिवालिया इंग्लैण्ड के कागज के नोट थमाये गये। उन्हें अपनी गलती बाद में महसूस हुई, पर 'समय चूकि पुनि का पछताने ?' उस भीषण अकाल से यदि हम सीखें कि रुपयों-पैसों से श्रेष्ठ दूसरी चीजें हैं, जिनसे कीमतें कूती जा सकती हैं, तो गनीमत ही समझनी चाहिए।

जीवन का असली मकसद : १० :

क्या मनुष्य-जीवन के कोई मानी हैं? वह किन-किन बातों से मिलकर बनता है? क्या केवल जिन्दा रहना ही जीवन है?

हम देख चुके हैं कि मनुष्य में बुद्धि है और अन्य प्राणियों में वह नहीं होती। इसलिए कौनसे मूल्यांकन के तरीके वह अख्तियार करता है, इससे उसकी कद्र तय होती है। अर्थात् मनुष्य जो बनना चाहे, वही बन सकता है। मनुष्य अपनी जीवन-पद्धति से निजी सुप्त प्रवृत्तियों को प्रकट करता है और इसी प्रकटीकरण को हम 'व्यक्तित्व' के नाम से पुकारते हैं। जीवन एक जरिया है, जिसके द्वारा मनुष्य खुद की उन्नति करता रहता है और उसीकी बदौलत वह अपनी सृजनात्मक शक्तियों द्वारा खुद को व्यक्त करता है। इसीलिए मनुष्य अपना जीवन कैसे व्यतीत करता है, इसका काफी महत्त्व रहता है।

सारांश, मनुष्य का जीवन एक विशाल रंग-फलक है, जिस पर विभिन्न मूल्यांकन की पद्धतियों के अजनबी रंगों से वह अपनी बुद्धिरूपी कूँचे के रेखांकन से एक कलाकृति निर्माण कर रखता है, जिससे समाज की प्रगति और अवनति दोनों हो सकती हैं। यदि वह स्वार्थी मूल्यरूपी रंग इस्तेमाल करेगा, जो कि पानी में बने रंग जैसे हैं, तो उसकी कलाकृति कालगति के साथ अस्पष्ट होती ही जायगी; उसे शाश्वत पद प्राप्त नहीं होगा और वह एकाएक नष्ट हो जायगी। पर यदि वह परोपकाररूपी रंग इस्तेमाल करेगा, तो उसके रंग अजंता की गुफाओं के चित्रों जैसे नित्य-नूतन बने रहकर कई पीढ़ियों के लिए मार्गदर्शक होंगे और स्थायित्व और अहिंसा का सन्देश पीढ़ी-दर-पीढ़ी पहुँचाते रहेंगे।

मनुष्य के जीवन का इतना महत्त्व है, इसलिए उसे वह चुपचाप दूसरों के इशारे पर नहीं चलने दे सकता। हरएक आदमी पर यह तय

करने की जिम्मेवारी है कि वह अपना जीवन कैसे बिताये। वह अपनी उत्तम कलाकृति के बदले अपने सामने फ्रेम और काँच मढ़ी हुई कोई लिथोग्राफ की सस्ती कलाकृति नहीं रख सकता।

आजकल एक ही नाप की बड़े पैमाने पर चीजें उत्पादन करने की पद्धति लोगों के जीवन को करीब-करीब नियंत्रित करती है। ग्राहकों को जैसी चीजें चाहिए, वैसी चीजें बनाने के बजाय कारखानेवाले खुद कारखानों की चीजें लोगों के मत्थे मढ़ते रहते हैं। इस निष्क्रियता से बेड़ा पार नहीं हो सकता। हमें सोच-समझकर हाथ-पैर हिलाना ही पड़ेगा।

पिछले दो जागतिक महायुद्धों ने स्पष्ट कर दिया है कि आधुनिक संस्थाएँ और संगठन कितने विनाशकारी हैं। विज्ञान तो स्वभाव से ही सृजनात्मक और दूसरे का खयाल रखनेवाला है, पर उसे भी हमने तोड़-मरोड़कर भयानक विध्वंस का जरिया बना दिया है। शाश्वतता और अहिंसा पर दृढ़तापूर्वक अड़े रहने के बजाय नामी-गिरामी वैज्ञानिक हिंसारूपी नदी की बाढ़ में बहे चले दिखाई दे रहे हैं, जिससे मानवीय प्रगति और संस्कृति के क्षेत्रों में मृत्यु और सर्वनाश का तांडव-नृत्य दृष्टिगोचर हो रहा है। पर वैज्ञानिक स्वयं यह डींग मारते हैं कि वे न इधर के हैं और न उधर के। यह आत्मवंचना है! हम निष्पक्ष तो रह ही नहीं सकते। या तो हम सृजक हैं या विध्वंसक। स्वेच्छा से उन्होंने विध्वंसक बनना स्वीकार किया है, इसीलिए चारों ओर बहुत बड़े पैमाने पर विध्वंसक कार्य चलता दिखाई दे रहा है।

चीजों का विनाश तो बहुत बड़े पैमाने पर होता ही है, पर फिर भी वह उतने महत्त्व का नहीं है। सबसे शोचनीय बात है, अनगिनत होनहार नवयुवकों के विनाश की। यदि एक शेर किसी बड़े वैज्ञानिक को खा जाय, तो उसे तो मांस, खून और हड्डियाँ मिलकर कुल १२० पौंड की खुराक मिलेगी। इस खुराक से जो पौष्टिक तत्त्व उसे मिलेंगे, वे शायद वनस्पतियों से भी उसे मिल सकते, बशर्ते कि उसके हाजमे में उचित हेरफेर किये जायँ। पर उस वैज्ञानिक की मृत्यु से समाज का केवल १२० पौंड

मांस का ही नुकसान नहीं हुआ। कई पीढ़ियों के संस्कारों के परिणाम-स्वरूप उसका जो विकसित मस्तिष्क था, उससे समाज वंचित रह गया। जिसकी बदौलत मनुष्य शाश्वतता की ओर अग्रसर हो सकता था, वह शेर की आक्रामक प्रवृत्ति के कारण नष्ट हो गया। पर उससे शेर का क्या खास फायदा हुआ? कुछ भी नहीं! उसके मांस और खून से कुछ समय के लिए शेर की भूख की तृप्ति हो गयी होगी, पर समाज का तो पुश्तैनी नुकसान हो गया। वैज्ञानिक के उच्च जीवन की, याने उसका ज्ञान, उसकी सृजनात्मक कला और उसके प्रेम की उस खूँख्वार जानवर को कोई कद्र नहीं।

इसी प्रकार इन युद्धों में जो लाखों आदमी खेत रहे, उनके कारण कितना नुकसान हुआ, इसका हिसाब लगाना मनुष्य-शक्ति के बाहर है। इन युद्धों से मानवीय प्रगति सदियों पीछे ढकेल दी गयी है।

कौनसा ऐसा बागबान होगा, जो ईंधन के लिए अच्छे फल देनेवाला कलमी आम का पेड़ कटवायेगा? पर मनुष्य इतना मूर्ख है कि वह अपने लड़के-बच्चों को लड़ाई में कट मरने को भेजता है और उस पर गर्व करता है। यह सब हिंसा के महत्त्व का प्रतिपादन करने के प्रचार का परिणाम है।

जाते-जाते इस बात का जिक्र करना असंगत न होगा कि धार्मिक कारणों या भावनाओं की बात छोड़ भी दें या हिंसा-अहिंसा के सवाल को भी छोड़ दें, तो भी खुराक के लिए जानवरों का कत्ल करना उपर्युक्त दलील से अत्यन्त निंद्य सिद्ध होता है। मांसाहारी तो केवल उनका मांस पा लेता है, पर कुदरत कई स्वाभाविक आविष्कारों को—उदाहरणार्थ पक्षियों का संगीत, प्राणियों का पारस्परिक प्रेम आदि—खो बैठती है। कई बार ये मनुष्य की प्रयत्नपूर्वक क्रियाओं और उसकी सृजनशक्ति से श्रेष्ठ होते हैं। इसलिए मांसाहार अशाश्वत आक्रामक व्यवस्था में बैठता है और उसकी बदौलत टल सकनेवाली बहुत-सी हिंसा होती रहती है। उसका आदी व्यक्ति अत्यंत निकृष्ट कोटि में पहुँच जाता है।

इन विचारों का पहले वर्णन की हुई पाँच व्यवस्थाओं से समन्वय किया जाय, तो परोपजीवी व्यवस्थावाले अनुकरणशील कहलायेंगे, आक्रामक व्यवस्थावाले गुलछर्रे उड़ानेवाले कहलायेंगे, पुरुषार्थयुक्त व्यवस्थावाले भौतिक चीजें उत्पादन करनेवाले कहलायेंगे, समूहप्रधान व्यवस्थावाले नये सामाजिक विधान बनानेवाले कहलायेंगे और सेवाप्रधान व्यवस्थावाले परोपकारी कहलायेंगे।

अनुकरणशील लोग—इस वर्ग के लोग स्वयं सोच-विचार की कोई चीज न करेंगे; केवल दूसरों का अंधानुकरण करेंगे। अपना निजी स्वार्थ और सुख सबसे आसान तरीके से प्राप्त करना, यही इनका विशेष लक्षण है। परिणाम यह होता है कि वे दूसरों की मार्फत ही जिंदा रहते हैं। उनके केवल जिस्म की हस्ती होती है। वे चंद्र के समान पर-प्रकाशित होते हैं। उनका निजी व्यक्तित्व कहीं व्यक्त ही नहीं होता। उनके पास सीखने लायक कुछ नहीं रहता। वे एक खच्चर के मानिंद हैं, जो न तो घोड़ा है और न गधा और न प्रजोत्पादन ही कर सकता है। उसी प्रकार अंधानुकरण करनेवालों में निजी सृजनात्मक शक्ति ही नहीं होती या होती है, तो वह सुप्त अवस्था में रहने दी जाती है। संभव है कि उनके आसपास का वातावरण यदि तबदील किया जाय, तो वे समाज की प्रगति में हाथ बँटा सकेंगे। पर जब तक वे स्वतंत्र रूप से कोई कार्य नहीं करते, तब तक समाज की दृष्टि से वे बेकार हैं। वे कुछ निर्माण किये बिना अकेले भक्षण ही किये जाते हैं। उनकी जीवनी कलात्मक चित्र नहीं है; वे तो सफेद कागज पर काली स्याही से छपी आकृतियाँ ही हैं।

इस शताब्दी के शुरू में जापानियों ने पश्चिम की सभी बातों का जमकर अनुकरण किया। वे इस समूह के अच्छे उदाहरण हैं। इस अनुकरण के पूर्व वे अपने पड़ोसी चीन और हिन्दुस्तान के समान स्थायी व्यवस्था के हिमायती थे। पर अनुकरण करने के बाद हम देखते हैं कि वे मंचूरिया और चीन पर आक्रमण कर परोपजीवी व्यवस्था में आकर गिरे। अहिंसा को पदच्युत करके उन्होंने हिंसा और सर्वनाश को अधिष्ठित किया।

अपने देश में हिन्दी ईसाई इसके अच्छे उदाहरण हैं। मैं भी उन्हींमें से एक हूँ और यह लिखते हुए मुझे शर्म मालूम होती है। वे पश्चिम का सब बातों में अनुकरण करते हैं, यहाँ तक कि अपनी मातृभाषा के बदले अंग्रेजी में बोलना अधिक पसन्द करते हैं। वे पाश्चिमात्य पद्धति

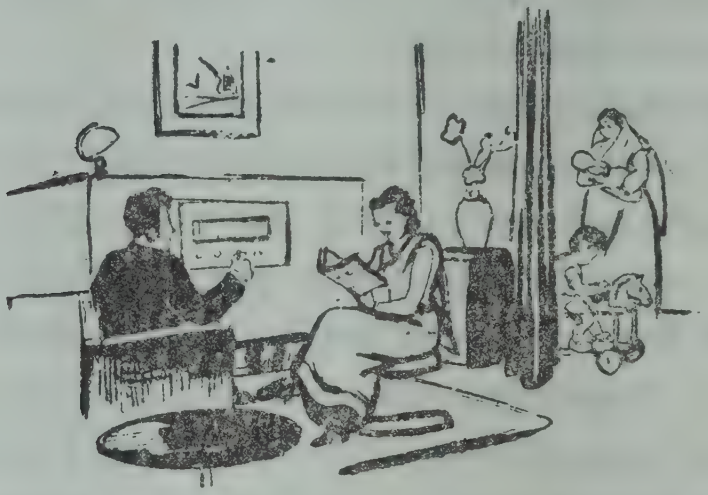

चित्र नं० १५. पश्चिम के पादरियों का पूरा अनुकरण

की पोशाक पहनते हैं, वे अपना घर पाश्चिमात्य पादरियों के घरों के माफिक ही सजाते हैं और उनमें से जो घर के मालदार हैं, वे अपना खान-पान भी पश्चिम के लोगों के मुताबिक रखते हैं, यहाँ तक कि ताजी बनी चीज खाना पसन्द न करके वे डिब्बों में भरी चीजें खाना पसन्द करते हैं। उन्हें यदि मनोरंजन करना हो, तो वे यही देखेंगे कि उसके लिए पश्चिमी लोग क्या करते हैं। यदि वे घुड़दौड़ देखना और नाचघरों में नाचना पसन्द करते हैं, तो ये भी वही करेंगे। किसीने तो यहाँ तक लिख दिया है कि पश्चिमी नाच याने 'संगीत आलिंगन' ही है। ये भाई विश्व-विद्यालयीन बड़ी-बड़ी पदवियों से विभूषित होते हुए भी स्वतन्त्र रीति से कोई भी विचार नहीं प्रस्तुत कर सकते। बदकिस्मती से बड़े शहरों के वाशिन्दों में यह प्रवृत्ति अधिक है। पर खैर इतनी ही है कि इनकी संख्या

अत्यल्प है और यदि इस प्रवृत्ति को रोकने की समय रहते चेष्टा की गयी, तो उसे जड़मूल से उखाड़ फेंक देना सम्भव है।

आत्मसात् करनेवाले लोग—इस समूह के लोग 'खाओ, पीयो, मौज उड़ाओ', चार्वाक की इस विचारधारा के माननेवाले होते हैं। ये भी पहले वर्ग के अनुसार दूसरों का अनुकरण तो करते हैं, पर उसमें थोड़ा-सा हेरफेर करके उसे अपना बना लेते हैं। वास्तव में वह हेरफेर इतना स्पष्ट नहीं होता कि वे मौलिकता का दावा कर सकें।

आज के जापानी दूसरों की चीजों को अपनाने में बड़े सिद्धहस्त हैं। वास्तव में उन्होंने जो पश्चिम से उठाया, उसे उन्होंने अपना देशी लिवास पहनाकर अपना बना डाला। उदाहरणार्थ, उन्होंने केन्द्रित उत्पादन पद्धति पश्चिम से उठायी और केन्द्रित उद्योगों की जटिल क्रियाओं को छोटी-छोटी इकाइयों में बाँट दिया और वहाँ विशिष्ट भाग बन जाने पर उन्हें सब एक केन्द्रीय वर्कशाप में लाकर जोड़ने का सिलसिला कायम किया। एक उदाहरण देकर यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी। इंग्लैण्ड में समूची साइकिल—मान लीजिये, बी० एस० ए० कम्पनी की—एक ही कम्पनी में बनेगी, पर जापान में वह छोटी-छोटी इकाइयों में मिलकर बनेगी। कुछ इकाइयों में केवल स्पोक ही स्पोक बनेंगे, कुछ में रिम, कुछ में पैडल आदि और ये सब भाग एक केन्द्रीय वर्कशॉप में इकट्ठे होकर उनसे बनी साइकिल उस वर्कशाप से तैयार निकलेगी।

जब हमारे देश के कुछ लोग, जो अनुकरणशील वर्ग के व्यक्तियों की तरह पाश्चिमात्य पद्धति से इतने प्रभावित नहीं हैं, चन्द बाबतों में ही अनुकरण करना चाहते हैं—मान लीजिये, कपड़े पहनने में—तो वे बड़े भद्दे मालूम होते हैं। एक बाबू ओपेन कॉलर कोट पहनता है, पर इस देश की गर्म आबोहवा को खयाल में रखकर कड़ा कॉलर और नेकटाई नहीं लगाता। वह यह सोचकर कि इससे ठंडक पहुँचेगी, शर्ट को पैण्ट के अन्दर न खोंसकर बाहर ही रखता है और ऑक्सफर्ड शू बहुत महँगा और इसलिए उसकी शक्ति के बाहर होने से वह उसके एवज में

अपने पास के एकमात्र देशी चप्पल ही पहनता है। यह मूर्ति फैशनेबल व्यक्ति की नजरों में जरूर खटकेगी, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि उसमें निरे अनुकरण करनेवाले से अधिक स्वतन्त्र बुद्धि है।

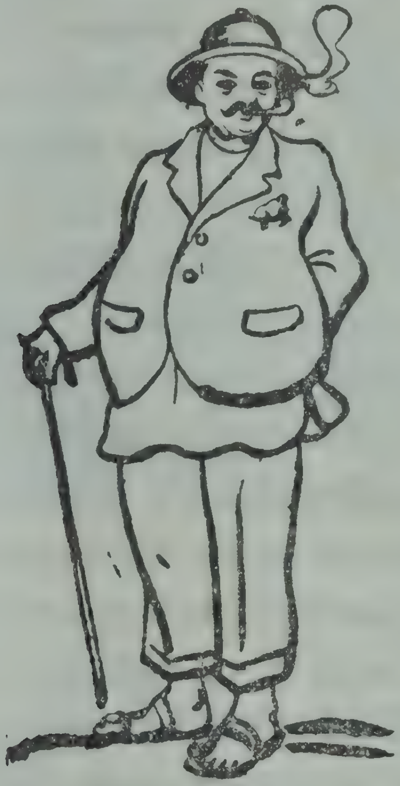

चित्र नं० १६. अधूरी नकल

ऐसे व्यक्ति उतने ही हद तक कलावान् हैं, जितने कि कपड़ों के थानों पर लगे कागज के चित्र। उन्हें चीजें पसन्द करने की स्वतंत्र बुद्धि है, पर कोई भी चीज समूची बनाने की उनमें या तो कूवत नहीं है या वे इतने आलसी हैं कि उस कूवत का वे उपयोग करना नहीं चाहते। इसलिए वे जो कुछ इधर-उधर पेवनबन्दी करेंगे उससे उन्हें शाश्वतता नहीं हासिल होगी और जल्द नतीजा हासिल करने की फिराक में वे अवश्य हिंसा के रास्ते में जा गिरेंगे।

भौतिक चीजों का संग्रह करनेवाले—पुरुषार्थयुक्त व्यवस्था के

नियमों के अनुसार इस वर्ग का हरएक आदमी हमेशा यही देखेगा कि उसकी अपनी पाँचों अँगुलियाँ घी में रहें, फिर दूसरा भूखों भी मरता हो, तो उसे कोई परवाह नहीं। उनमें मौलिक विचार या कल्पनाएँ अवश्य होंगी, पर वे सब निजी स्वार्थ की पूर्ति के लिए होंगी। इससे कोई यह समझ बैठेगा कि हर कोई अपनी मर्जी के मुताबिक जीवन बिताने के लिए स्वतंत्र है। पर बदकिस्मती से आज की दुनिया उत्पादकों के इशारों पर नाचती है। लोगों की रहन-सहन कैसी रहे, यह वे निश्चित करते हैं। इसलिए किसी भी चीज को पसन्द करने की स्वतन्त्रता और उपभोक्ता की प्रवृत्ति को काम में लाने का मौका ही नहीं आता।

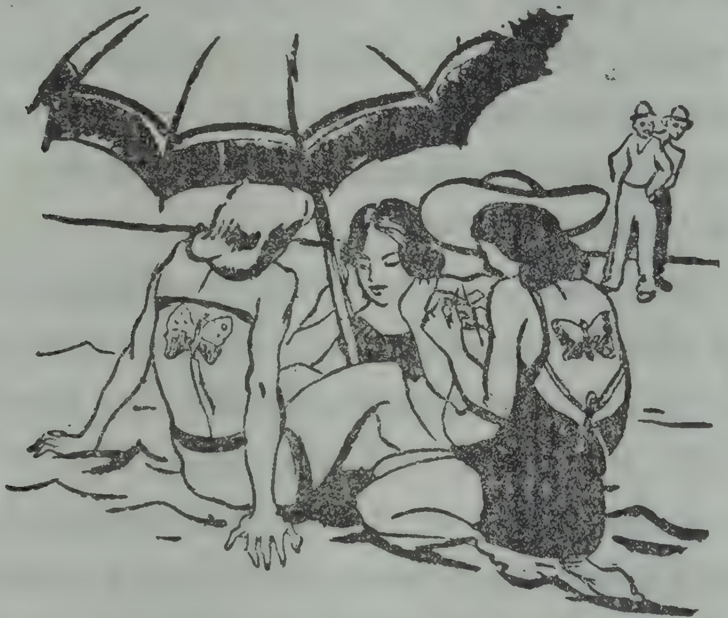

चित्र नं० १७. उत्पादकों द्वारा प्रचलित फैशन

फ्रांस में फैशन के प्रणेता यदि घोषित करें कि आज का फैशन अपनी पीठ पर तितलियाँ गोदवा लेना और उन्हें लोग देखें, इसलिए अपनी पीठ खुली रखना है, तो फ्रान्स की स्त्रियाँ दूसरे दिन तैरने की पोशाकें पहनकर पेन्टर की दूकान में जाकर अपनी पीठ पर बिना किसी संकोच के तितलियाँ चित्रित करा लेंगी और लोग उन्हें देखें, इसलिए जहाँ हमेशा लोग

हवाखोरी के लिए एकत्रित होते हैं उस रिविएरा नामक स्थान में खुलेबदन घूमेंगी। उनका रवैया देखनेवाला शायद शर्मा जाय, पर खुद उन्हें शर्म छू तक नहीं जाती।

पोशाक और स्त्रियों के फैशन में फ्रान्स हमेशा अग्रसर रहता है। लन्दन इनकी नकल करता है और शायद उनकी तिजारत से फायदा उठाता है; पर अमेरिका अपने सुभीते के लिए उनमें कुछ हेरफेर कर देता है और उनको समाज में कायम कर देता है।

पोशाक और फैशन का स्टैंडर्ड कायम कर देने से उपभोक्ता को अपना जीवन अमुक तौर से बिताने की स्वतंत्रता नहीं रह जाती। लोग यही सोचते हैं कि हम यदि मौजूदा फैशन के मुताबिक न चलेंगे, तो लोग हमें क्या समझेंगे। लोग हमें क्या कहेंगे, यही विचार उनमें सर्वोपरि रहेगा, अपनी सुविधा या उस फैशन की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता का विचार करने की उन्हें गुंजाइश ही नहीं रहती। उनका गृहस्थ-जीवन भी कोर्ट, हाकिम या व्यापारी नियंत्रित करते हैं।

कुछ समय फैशन यह होगा कि यदि खीर खानी हो, तो उसे चपटे किनारवाले बर्तन में रखकर बड़े अंडाकृति चम्मच से खायी जाय। कुछ वर्षों बाद यह फैशन बदल जायगा और खीर बिना किनारी के चपटे बर्तन में रखी जायगी और करीब-करीब गोल चम्मच से वह खायी जायगी। ये परिवर्तन दूसरे की हेठी करने और व्यापारियों के फायदे के लिए अच्छे हैं। गरीब लोग तो अपनी तश्तरियाँ और चम्मच बार-बार बदल नहीं सकते, इसलिए वे हमेशा फैशनेबल अमीरों से अलग पड़ जाते हैं। व्यापार की दृष्टि से ये चीजें यदि पुश्तैनी चलती रहें, तो उनके व्यापार के लिए बहुत कम गुंजाइश रहेगी। पर यदि उपर्युक्त तरीके से चीजें इस्तेमाल करने का फैशन बदलता रहेगा, तो बदली हुई चीजों की माँग बढ़ जायगी और व्यापार के लिए काफी गुंजाइश रहेगी।

जो लोग इस प्रकार मूर्खता-भरे और बेकार के फैशन में पड़ते हैं, वे या तो भोले-भाले होते हैं या समाज के परपुष्ट व्यक्तियों के या आकर्षक

ढंग से इश्तहार देकर जहाँ वास्तविक किसी चीज की जरूरत नहीं है, वहाँ वह है, ऐसा आभास निर्माण करनेवाले व्यापारियों के शिकार बन जाते हैं। ऐसे झूठे प्रचार और फैशन के शिकार बने अज्ञ लोगों में समय पाकर हीनभाव पैदा होता है, वे आत्मविश्वास खो बैठते हैं; वे अपनी सृजनात्मक शक्ति को खुलकर खेलने नहीं देते और इसलिए अपना जीवन भाररूप बना लेते हैं।

यदि कोई बंबई के चंद घरों में जाय, तो वह कह सकेगा कि अन्य घरों में कौन-कौनसी चीजें देखने को मिलेंगी। हरएक घर में एक ही किस्म का प्लाइवुड का फर्नीचर मिलेगा, टेबल पर काँच रखा मिलेगा और उसके साथ जो चीजें आती हैं, वे सब बाकायदा दिखाई देंगी। कहीं विविधता नहीं, कल्पना नहीं और न मौलिकता ही रहती है। सब घोड़े बारह टकेवाला हिसाब रहता है। पुरानी श्मशान-भूमियों में भी कभी-कभी शिल्प और कला के उत्कृष्ट नमूने देखने को मिलते हैं, पर बंबई में मकानों में, जहाँ आदमी रहते हैं, इनका नामोंनिशान भी नहीं मिलता। ये घर कब्रों से भी गये बीते हैं। जीवन को आसान बनाने के बहाने लोगों की आवश्यकता की सभी चीजें कारखानेवाले बनी-बनायी लाकर रख देते हैं, पर सुगमता से मनुष्य की उच्च प्रवृत्तियाँ मर जाती हैं, जिससे प्रगति एकदम रुक जाती है।

यदि जीवन हरा-भरा रखना हो, तो इस तरह का बना-बनाया तैयार माल मिलना बन्द होना चाहिए। हरएक को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार चुनाव करने की गुंजाइश रहनी चाहिए। अपने मकान का नकशा खुद बनाना या अपने टेबल, कुर्सी या अन्य सामान का आकार-प्रकार खुद तय करना, इसमें व्यक्तित्व का प्रकटीकरण अच्छी तरह हो सकता है। जीवन को आसान बनाने की तथाकथित सदिच्छा से बड़े-बड़े कारखानेवाले व्यक्तित्व को नष्ट कर जीवन को दरिद्री बना रहे हैं। अमेरिका में तैयार हिस्सों को मिलाकर एक रात में मकान खड़ा किया जा सकता है। जिसे वैसा मकान बनवाना हो, उसे सिर्फ कम्पनी को टेलीफोन कर इतना

बता देना पड़ता है कि उसको अ, ब, क या ड नमूने का मकान चाहिए। उसके तमाम दरवाजे, खिड़कियाँ आदि बनी-बनायी तैयार रहती हैं। तख्तों की सन्दूक बनाने में जितनी देर लगती है, उतनी देर में इनका एक मकान खड़ा हो जाता है। कम-से-कम खुराक की निस्बत तो अपनी रुचि का कुछ खयाल आदमी को रखना चाहिए! पर यहाँ भी कारखाने-वालों ने अपनी चीजों के खाद्य-गुणों की आकर्षक और लुभावने शब्दों द्वारा इश्तहारबाजी से लोगों पर ऐसी छाप बिठायी कि लोग उनकी बनायी हुई चीजों पर लट्टू हो गये। अब हिन्दुस्तान के बाजारों और घरों में भी तैयार खुराक की चीजें नजर आने लगी हैं, जिससे पाकशास्त्र को काफी धक्का पहुँचा है। वास्तव में हरएक गृहिणी को अपनी पाकशास्त्र-निपुणता पर नाज करना चाहिए। पर हम देखते हैं कि सब जगह डिब्बों में भरे तैयार अचार, मुरब्बे, चटनियाँ आदि चीजें हजारों मीलों से हमारे यहाँ आती हैं।

मनुष्य की बनावट ही कुछ ऐसी है कि वह सामने आनेवाली समस्याओं पर जितना कम सोचेगा, उतना ही वह जीवन-संग्राम में कम टिक सकेगा। इसलिए आज का कारखाने का मालिक, जो उपभोक्ताओं के सोचने का काम भी स्वयं ही कर लेता है, वास्तव में मनुष्य को बेकाम बना देता है। एक माँ के लिए भी यह नितान्त आवश्यक है कि वह अपने बच्चे को स्वयंस्फूर्ति से चलने की कोशिश करने दे और उस कोशिश में यदि बच्चा गिर जाय और उसे चोट आ जाय, तो भी कोई हर्ज नहीं। पर यदि वह ऐसी कोशिश करे कि उसका बच्चा कभी न गिरे और इसलिए उसको हमेशा गोदी में ले-लेकर फिरे, तो उस बच्चे की संतुलन की शक्ति विकसित न होगी और वह सारे जीवनभर पंगु ही बना रहेगा। आज के कारखानेवाले लोग समाज को यही सेवा (!) कर रहे हैं।

हमारे देश में विभिन्न प्रान्तों में और विभिन्न आबोहवा में जीवनयापन करने के इतने विविध तरीके हैं कि उनसे मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति का काफी विकास हो सके। किसी एक प्रान्त में भी विभिन्न जमातें पायी जाती हैं। इसलिए व्यक्तित्व के विकास और अभिव्यक्ति के लिए काफी

गुंजाइश रहती है, बशर्ते कि हम कारखानेवालों के मायाजाल में न फँसें। सौभाग्य से चन्द बड़े शहरों को छोड़कर देश की देहातों की जनता बहुत बड़े पैमाने पर इस बुराई से अछूती ही है। पर आजकल उल्टी दिशा में बढ़ने की रफ्तार बहुत तेज हो गयी है और देहातों में भी यह बुराई पहुँचने लगी है। यह बुरा संसर्ग टालने के लिए कानूनन कार्रवाई करने की जरूरत है।

वास्तविक रूप से कारखानेदारों के कारण समाज की ताकत बढ़नी चाहिए, पर प्रत्यक्ष में वह कम हो गयी है; क्योंकि जनसंख्या में उपभोक्ताओं की ही संख्या अत्यधिक रहती है, पर उसे कारखाने की बनी चीजों के नीचे निर्दयता से दबा दिया जाता है। इस प्रकार के जीवन में कोई असली कलाकृति निर्माण नहीं हो सकती, पानी लगाकर पुस्तकों में चिपकाने लायक हजारों चित्र मिल सकेंगे।

इस पद्धति में उपभोक्ता को यह कहने की गुंशाइश ही नहीं कि उसे फलाने किस्म की चीज चाहिए। इस व्यवहार के इस पहलू को प्रकांड अर्थशास्त्री 'माँग' के गलत नाम से पुकारते हैं। वह तो कोई माँग पेश ही नहीं करता। जो उसके सामने रखा जाता है, उसे वह चुपचाप उठा लेता है। इस प्रकार सब कारोबार ही उल्टा कर दिया जाता है। जूते बनाये जाते हैं इंग्लैंड के नार्थैम्पटन शहर में और वे पहने जाते हैं हजारों मील दूर हिंदुस्तान या अन्य किसी देश में। उन्हें बनानेवालों को, वे जिन पैरों में पहने जायेंगे, उनकी सूरत-शक्ल देखने का मौका ही नहीं मिलता, ताकि वे पैरों के आकार के माफिक जूते बना सकें। वे तो अपनी सूझ से जूते बनाते हैं और पहननेवाले को देखना पड़ता है कि कौनसा जूता उसके पैर के योग्य है। अर्थात् पैर की शक्ल का जूता बनाने के बजाय जूते की शक्ल का पैर बनाना पड़ता है। और ऐसे भी पैर यदि जूते बनानेवालों की मातहत के देशों में मौजूद न हों, तो फिर उन्हें अबिसीनिया जैसे 'जंगली' देशों को अपने काबू में लाकर वहाँ के नंगे पैर चलनेवाले निवासियों को जूते पहनाकर 'सुसंस्कृत' करना

होगा। तैयार माल के लिए इस प्रकार माँग पैदा करने की फिराक में आधुनिक लड़ाइयाँ छिड़ जाती हैं। अनैसर्गिक माँग पैदा करने से हिंसा पैदा होती है और संतुलन बिगड़ जाता है। उस संतुलन को कायम रखने की कोशिश में और अधिक हिंसा पैदा होती है।

यदि हमें स्थायित्व और अहिंसा प्राप्त करनी हो, तो उपभोक्ता को प्राधान्य देना होगा और हरएक चीज उसकी व्यक्तिगत जरूरत और रुचि के अनुसार पैदा करनी होगी। यह तभी संभव हो सकता है, जब उपभोग्य वस्तुएँ अपनी-अपनी जगह पर ही बनें, खासकर घरों में और उपभोक्ता की देखभाल के नीचे उसकी आवश्यकतानुसार। ऐसी ही पद्धति में उपभोक्ता का मूल्यांकन का मानदण्ड उचित दिशा लेगा और उत्तरोत्तर प्रगत होगा और अन्त में उसका सम्पूर्ण विकास करेगा। उत्पादन और वितरण की आधुनिक पद्धतियों ने मनुष्य के जीवन को अवरुद्ध और पशु-कोटि का बना दिया है। उनका वातावरण एकदम गला घोंटनेवाला है। उसमें सफाई की जा सकती है, बशर्ते कि इस वर्ग के लोग जाग्रत हो जायँ और आग्रहपूर्वक उचित और सही रास्ते पर चलने की ठान लें। आज की सब चीजों की केवल रुपयों-पैसों में मूल्य कूतने की जो प्रवृत्ति है, उसे छोड़ देना होगा और विभिन्न किस्म के सांस्कृतिक मूल्य अपनाने पड़ेंगे।

नये सामाजिक विधान बनानेवाले लोग—समूहप्रधान व्यवस्थावाले लोग इस वर्ग में आते हैं। इसलिए किसी भी चीज की अच्छाई या बुराई नापने की इनकी कसौटी होगी 'समाज की दृष्टि से क्या यह फायदे की है? व्यक्ति विशेष या किसी गुट विशेष के फायदे का ये खयाल नहीं करेंगे। यहाँ रुपयों-पैसों की कीमत का कोई महत्त्व नहीं होगा। आज की चिंता करने की बजाय सुदूर भविष्य की चिंता का यहाँ प्राधान्य होगा।

हाल ही में समाजवादी अर्थव्यवस्था के बारे में कई प्रयोग किये गये हैं। रूस का कम्युनिज्म इस दिशा में पहला प्रयत्न था। उसीकी नकल

फासिस्टों और नाजियों ने की। पर उनके प्रयत्नों से शाश्वत व्यवस्था और अहिंसा का प्रभात कहीं नहीं हुआ, प्रत्युत उन्होंने मनुष्यत्व को खून की नदियों में डुबो दिया। हरएक अपने-अपने देश को जल्दी-से-जल्दी सुखी करना चाहते थे, पर वे यह भूल गये कि वे एक विशाल मानवता का अविभाज्य अंग हैं। हुक्म की तामीली करने की आदी बिचारी जनता को यह सिखाया गया कि सही हो या गलत, हमारे देश का हित हम पहले देखेंगे। इसलिए उनका सर्वनाश हुआ।

लीग ऑफ नेशन्स का नाम तो बहुत बड़ा था और वह सारी दुनिया का हित करने का दम भरती थी सही, पर उसने भी उन्हींका हित कर, जिन चन्द लोगो के हाथों में उसकी व्यवस्था थी, अदूरदर्शिता से काम लिया। इसलिए वह भी सारे मानव-समाज के लिए शाश्वतता और अहिंसा निर्माण न कर सकी।

इसलिए योग्य दिशा में जीवन का नियमन करना जरूरी है। यह योजना सफल होने के लिए उसका ध्येय सम्पूर्ण मानव-समाज की सेवा होना चाहिए और वह कुदरत के विरुद्ध नहीं होनी चाहिए। उसमें केन्द्रित कारखानों की बनी चीजें दूसरों पर लादने की कोशिश नहीं होनी चाहिए और न व्यक्तित्व के विकास का विरोध होना चाहिए।

इस वर्ग के लोगों के लिए हमारे देश में बहुत विशाल कार्यक्षेत्र है। गाँवों को ऐसे कार्यकर्ताओं की निहायत जरूरत है, जो उनके कार्यों को संगठित कर उनका जीवन सुखी बनायें। आज की देहातियों की हालत जंगली पशुओं से भी बदतर है; क्योंकि जंगली पशु तो कम-से-कम पेटभर और पौष्टिक खुराक तो पा जाते हैं, लेकिन हमारे देहातियों को वह भी मयस्सर नहीं होती। हमारा सामाजिक और आर्थिक वातावरण ही ऐसा तंग है कि कोई नयी सूझ पैदा ही नहीं होती है। इसलिए इस वर्ग के लोगों का कर्तव्य है कि वे देहातियों के लिए ऐसी योजना बनायें, ताकि उनका जीवन आत्म-प्रकटीकरण के मौकों से भरा-पूरा रहे।

यह साध्य करने के लिए योजना बनाने के मानी ये होते हैं कि हम

पहले एक ध्येय निश्चित करें और उसे प्राप्त करने के लिए कोशिश करें। यदि यह ध्येय ठीक तौर से निश्चित हुआ, तो उसके प्राप्त करने में समाज के हरएक व्यक्ति की उन्नति की पूरी गुंजाइश रहेगी। ध्येय ठीक है या नहीं, यह उसमें किये गये हेरफेरों के परिणामों से जाना जा सकता है। प्रकृति का ध्येय या आदर्श तो जीवन के सूक्ष्म काल में बदल नहीं सकता। उसमें यदि कोई फर्क पड़ गया, तो बीमारी अवश्य पैदा होगी। कुदरत ने मनुष्य का शरीर करोड़ों वर्षों के अनुभव के बाद बनाया है। हमारी पचनेन्द्रिय जैसी आसान, पर अत्यन्त कार्यक्षम, प्रयोगशाला कोई वैज्ञानिक अभी तक नहीं बना सका है। हमारे कलेजे जैसा स्वयंभू काम करनेवाला और आप ही आप नियन्त्रित होनेवाला पंप अभी तक कोई इंजीनियर ईजाद नहीं कर सका है। चाहे तारवाली या बेतारवाली प्रणाली लीजिये, हमारे ज्ञानतंतुओं जैसी कार्यक्षम सन्देशवाहक पद्धति ईजाद करनेवाला मारकोनी अभी तक पैदा नहीं हुआ है। इस शरीर और मन की स्वाभाविक बनावट और कार्य-पद्धति में कोई भी अज्ञ व्यक्ति हेरफेर नहीं कर सकता। इसलिए किसी मरणाधीन व्यक्ति के लिए अपनी इच्छा के मुताबिक जीवन-यात्रा चलाना संभव नहीं है। वह अधिक-से-अधिक इतना ही कर सकता है कि कुदरत से सहकार कर शरीर को ऐसी तन्दुरुस्त हालत में रखे कि उससे अधिक-से-अधिक काम लिया जा सके। यह तन्दुरुस्त हालत कैसे हासिल होगी, इसे कुदरत ने तय कर दिया है और इन्सान को सिर्फ कुदरत के इस कार्य को समझकर उसके अनुसार चलना चाहिए। इस व्यवस्था के विरुद्ध यदि कोई कार्य हुआ, तो समाज में अव्यवस्था निर्माण हो जायगी

शरीर के साधारण तापमान में परिवर्तन करने की कोशिश करना फिजूल है, यह हरएक डॉक्टर जानता है। यदि वह नॉर्मल से ऊपर जाता है, तो बुखार हो आता है और यदि नीचे गिरता है, तो आदमी कमजोर हो जाता है; पर दोनों का आखिरी अंजाम तो मौत ही है। यदि कोई आदमी हमेशा अत्यन्त कड़ी मेहनत कर रहना चाहे भी, तो उस हालत में बढ़ी हुई धड़कन में टिकनेवाला कलेजा अभी तक ईजाद नहीं हुआ

है। कुछ हद तक कुदरत परिवर्तन गवारा कर सकती है, पर उसकी एक निश्चित मर्यादा है, जिसके परे वह नहीं जा सकती। अधिक खींचातानी करने से 'ब्लड प्रेशर' की बीमारी हो सकती है, जो खतरनाक ही है। इसी प्रकार मनुष्य के शरीर की कुछ स्वाभाविक आवश्यकताएँ हैं, जिनकी पूर्ति से वह अधिक-से-अधिक कार्यक्षम रह सकता है। योजना बनाने का यही मकसद है कि वह ये आवश्यकताएँ निश्चित करे और उन्हें हरएक आदमी कैसे हासिल कर सकता है, इसका रास्ता बताये।

पर बदकिस्मती से आजकल हर कोई केवल पैसों का ही खयाल करता है; मनुष्य की व्यक्तिगत आवश्यकताएँ कोई नहीं देखता।

इधर कई योजनाएँ बनायी गयी हैं, पर सबका ताल्लुक अधिक चीज उत्पादन करने से है, मनुष्य से सीधा उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं। ये सब योजनाएँ एक अच्छी तरह सजाये गये पुष्पगुच्छ की तरह हैं। उनमें खूबसूरती जरूर रहती है और कुछ समय तक उनकी महक भी बनी रहती है, पर चूँकि वे झाड़ से अलग किये हुए होते हैं, इसलिए उनकी मौत निश्चित ही है। इसलिए उनका वैभव भी अल्पकालीन ही होता है।

योजना बनानेवाले को तो एक माली के मानिन्द होना चाहिए। वह पहले जमीन तैयार करके उसमें बीज बो देता है और पानी देकर अलग हो जाता है। वह अपना फर्ज इस प्रकार अदा कर देता है। पौधा अपने तईं तैयार जमीन में से खुराक शोषण कर बढ़ता रहता है और उसमें फूल लगते हैं। फूलदानी में कितने भी अच्छे-अच्छे फूल ठूँस-ठूँसकर भरे जायँ, उनका वैभव क्षणिक ही है; पर पौधे में लगे हुए फूलों का वैभव स्थायी है, क्योंकि पौधे में जान है और वह अपनी जड़ों से जमीन में से जीवन-रस चूसता रहता है। पौधे के कुछ फूल मुरझाकर गिर जायेंगे, पर उनकी जगह दूसरे खिलेंगे।

इसी प्रकार किसी भी योजना में मनुष्य की तरक्की के लिए अनुकूल वातावरण निर्माण करने की कूवत होनी चाहिए। योजना के मुताबिक फलाना उत्पादन हुआ या नहीं, यह देखना किसी योजना का ध्येय नहीं

हो सकता। निर्धारित मर्यादा के मुताबिक उत्पादन बढ़ाना कुदरत के अनुकूल नहीं है। जबर्दस्ती करने से हम कुछ समय के लिए उसमें कामयाब हुए भले ही दिखाई दें, पर वह कुदरत के विरुद्ध होने से नष्ट होनेवाला ही है, इतना ही नहीं, संभवतः वह कुछ बुरी विरासत भी छोड़ जाय। इस प्रकार ठोंक-पीटकर वैद्यराज बनाना कृत्रिम रीति से बड़े दिन का झाड़ (Christmas Tree) सजाने जैसा ही है। उसमें आप कितनी भी मोमबत्तियाँ लगाइये, कितने भी खिलौने लटकाइये, पर वह झाड़ उनकी बदौलत गौरव अनुभव नहीं कर सकता, क्योंकि वे सब चीजें कृत्रिम ही हैं। यह झाड़ वास्तव में किसी झाड़ की तोड़ी हुई डाल ही होती है, इसलिए उसे जमीन से खुराक नहीं मिलती। कुछ समय के लिए उसके पत्ते भले ही तरोताजा दिखाई दें, पर वे जल्द ही मुरझा जायेंगे और वह डाल भी सूख जायगी, जिससे वह ईंधन के सिवा और किसी काम की न रह जायगी। चीजों की भरमार करने के पीछे लगी योजनाओं का यही हाल होगा।

योजना का मकसद यही है कि वह मनुष्य की सुप्त शक्तियों के विकास के लिए अनुकूल वातावरण निर्माण कर दे। हरएक आदमी को भरपूर पौष्टिक और संतुलित खुराक, आबोहवा के हेरफेर से शरीर की रक्षा के लिए आवश्यक कपड़े, रहने के लिए आवश्यक मकान, मन और शरीर को जीवनोपयोगी बनाने योग्य ट्रेनिंग की सम्पूर्ण सहूलियतें, तन्दुरुस्ती के लिए स्वच्छ वातावरण और मानवीय सम्पर्क, सस्ते उत्पादन और विनिमय की पर्याप्त सुविधाएँ, इन बातों की आवश्यकता रहती है। ये ही वास्तव में योजना बनानेवालों के उद्दिष्ट होते हैं। इनके परे जो कुछ भी करना हो, उसे व्यक्तिगत सूझ-बूझ पर छोड़ देना चाहिए। तभी उन्हें अपनी स्वतन्त्र बुद्धि को और मूल्यांकन के पैमानों को कार्यान्वित करने का मौका मिलेगा और वे मनुष्य के नाते जिंदा रह सकेंगे। तभी वे एक ऐसी संस्कृति निर्माण करेंगे, जो स्थायी होगी और निश्चित रूप से मानवीय प्रगति की सहायक होगी।

कोई भी योजना किसी भी व्यक्ति को अपना जीवन का तरीका तय करने से वंचित नहीं रख सकती, जब तक कि वह तरीका दूसरों के हितों पर आक्रमण नहीं करता। योजना सिर्फ इतनी ही देखेगी कि हरएक को कम-से-कम आवश्यकता की चीजें मयस्सर होती रहें। इसके उपरान्त हरएक को हक है कि वह अपनी व्यक्तिगत रुचि का अधिक-से-अधिक उपयोग करे। यदि किसी योजना में ऐसी गुंजाइश न हो, तो वह फौजी कानून सदृश होगी। फौजी कानून में व्यक्तिगत पसन्दगी के लिए गुंजाइश नहीं रहती। उसमें तो मनुष्य किसी यन्त्र का पुर्जा बन जाता है और उस हालत में कोई हेरफेर की गुंजाइश नहीं होती। बालक के जन्म से उसकी मृत्यु तक इस किस्म की फौजी व्यवस्था कितनी भी लुभावनी लगती हो, पर सचमुच वह एकदम त्याज्य है, क्योंकि उसमें मानवीय प्रगति के लिए आवश्यक आत्म-प्रकटीकरण की गुंजाइश नहीं है। जहाँ व्यक्तिगत विकास का कोई सवाल नहीं उठता, पर कई व्यक्ति मिलकर—उदाहरणार्थ, फौज आदि में—कोई खास ध्येय प्राप्त करना होता है, वहाँ यह सिद्धान्त निश्चित रूप से उपयोगी है। हमारा ध्येय तो हरएक का व्यक्तिगत विकास है और संगठन उसका जरिया है, इसलिए उसमें फौजी संगठन के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

उदाहरणार्थ, एक आदर्श गोशाला में गायों को अच्छी खुराक दी जायगी, उन्हें ठीक समय में और उचित परिमाण में नमक दिया जायगा और पानी पिलाया जायगा, अच्छी जगह पर वे बाँधी जायँगी, कुछ समय के लिए धूप में घूमने के लिए वे छोड़ दी जायँगी, उन्हें रोज नियमित रूप से स्नान कराया जायगा और ठीक समय पर दुहा जायगा। एक आदमी को केवल इतनी व्यवस्था से संतोष नहीं होगा, क्योंकि वह खुद को जानवर से श्रेष्ठ समझता है। किसी अच्छे जेल में ऊपर की गोशाला के माफिक ठीक व्यवस्था रहती है! इतना ही नहीं, बल्कि वहाँ कम आराम, नींद और खुराक लेना गुनाह समझा जाता है, क्योंकि उससे कैदी की तन्दुरुस्ती पर बुरा असर पड़ता है। कैदी की देह की तन्दुरुस्ती की वहाँ

कितनी खबरदारी ली जाती है! पर जहाँ अपनी पसन्दगी और निजी कार्यक्रम की गुंजाइश नहीं, वह भी कोई जीवन है?

इसलिए यह नितांत आवश्यक है कि कोई भी योजना मनुष्य के इर्द-गिर्द दुर्लंघ्य दीवालें खड़ी न कर दे, ताकि उसका जीवन एक किस्म का जेल ही बन जाय। वह तो खेत के इर्द-गिर्द बने बाड़ के सदृश हो, जो किसी जानवर या पराये मनुष्य को तो अन्दर आने से रोक दे, पर हवा और रोशनी को बे-रोक-टोक अन्दर आने दे। चूँकि इस वर्ग के लोगों ने अपना जीवन अपने साथियों की सेवा के लिए अर्पण कर दिया होता है, इसलिए उनकी सृजनात्मक शक्तियाँ इस किस्म की योजनाएँ बनाने में कार्यान्वित होनी चाहिए, ताकि लोगों को मुक्त जीवन-यापन करना सम्भव हो।

यहाँ पर हमने योजना का उद्देश्य क्या होना चाहिए और उसके लिए कौनसा क्षेत्र निर्धारित करना चाहिए, इस पर विचार किया। अगले अध्याय में हम जीवन का आदर्श क्या होना चाहिए, ताकि वह एक योग्य योजना का आधार बन सके, इस पर विचार करेंगे।

परोपकारी-वर्ग—ये लोग सेवा-प्रधान व्यवस्था के प्रतीक हैं; इसलिए इनमें व्यक्तिगत हकों को कोई स्थान नहीं रहता। उनकी जगह दूसरों के प्रति कर्तव्य ले लेते हैं और ये ही उनके जीवन को नियंत्रित करते हैं। इनकी स्वतन्त्र बुद्धि, मनुष्य में के पशु को और उसके स्वार्थी वैषयिक विकारों को दमन करके उनका दूसरे उचित मार्ग से उपयोग कर लेने में लगी रहती है। ये जो मूल्यांकन का पैमाना इस्तेमाल करते हैं, उसमें दूसरों की खुशहाली का अधिक खयाल रखा जाता है, बनिस्बत खुद की खुशहाली का, इसलिए ये दूर की बात सोचनेवाले होते हैं।

इस वर्ग के लोगों को कोई नया मार्ग या योजना ढूँढ़ निकालने के लिए यह जान लेना जरूरी है कि आज के समाज के दोष क्या हैं और उसकी कमियाँ कौनसी हैं। इन बातों को केवल बुद्धि द्वारा आकलन करने से काम न चलेगा। कुछ निश्चित मर्यादा में प्रयोग कर देखने के लिए एक प्रयोग-घर की सख्त जरूरत है और उसमें प्रयोग करने के बाद

जो उपाय उपयुक्त साबित हुए होंगे, उन्हींकी सिफारिश दूसरों से की जा सकेगी। खुराक का संशोधन करनेवाला शास्त्री प्रथम सुअर, सफेद चूहे, कबूतर, बंदर आदि को अलग-अलग खुराक पर रखता है और उन पर क्या परिणाम होता है, यह देखता है। यह देख लेने के बाद ही वह सुझा सकता है कि समतोल आहार की गरज से मनुष्य को कौन-कौन-सी चीजें कितने परिमाण में खानी चाहिए। इसी प्रकार समाज के लिए जो कुछ नयी बातें हम सोचें, उनका मनुष्य पर क्या असर होता है, यह प्रथम देख लेना जरूरी है। इसलिए इस वर्ग के लोग प्रयोगशास्त्री भी हैं और प्रयोग किये जानेवाले बंदर, चूहे आदि भी हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि पिछले वर्ग के लोगों को आम जनता के लिए कुछ नियोजन करना पड़ता है। पर कोई योजना किन्हीं अनुभूत सिद्धान्तों की बुनियाद पर ही बनायी जा सकती है। यह सेवाभावियों का खास मौका है। 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है', ऐसा कहा जाता है। यदि हम दूसरों की आवश्यकताएँ या अड़चनें खुद की ही हैं, ऐसा मानने लगें और हममें यदि कोई सर्जनात्मक शक्ति की देन है, तो हम उन अड़चनों को हल करने के तौर-तरीके ढूँढ़ सकते हैं। सेवाभावी वर्ग के लोगों का जीवन दूसरों के लिए ही होता है। वह दूसरों की भावनाओं और उनके आसपास के वातावरण का खुद के बनिस्बत अधिक खयाल रखेगा। वह दूसरों के सुख-दुःख बँटायेगा। उसके मूल्यों का पैमाना दूसरों के हित पर अधिष्ठित रहेगा। उसे निजी हकों का कोई भान नहीं होगा। वह निराश्रित और मित्रहीनों का संरक्षक बना होगा और उसके लिए सारा मानव-समाज अपने कुटुंब-जैसा होगा।

शास्त्रीय अनुसन्धानों के इतिहास में ऐसी कई मिसालें मिलती हैं, जब कि वैज्ञानिकों ने अपने नये अन्वेषण का प्रथम प्रयोग खुद पर ही किया है। कितनों ने अपनी जानें जोखिम में डालकर ये काम किये और अन्य कई तो अपनी जान खो बैठे। इन्हीं शहीदों के खून से मानव की प्रगति का मार्ग पक्का बन गया है। हमारे देश के करोड़ों लोगों को सर्दी-गर्मी

से बचने के लिए आवश्यक कपड़े मिलना तो दर-किनार रहा, अपनी लज्जा के निवारण के लिए पर्याप्त चीथड़े भी मयस्सर नहीं होते। इन्हीं लोगों की हालत पर तरस खाकर और उनके समदुःखी बनकर गांधीजी ने केवल लँगोटी पहनना मंजूर किया।

हमारे देश में कई किस्म की सामाजिक और आर्थिक समस्याएँ मुँह बाये खड़ी हैं। उनका हल निकालने के लिए ऐसे सेवकों की जरूरत है, जो खुद को उस समस्या में डालकर उसकी कठिनाइयाँ और अड़चनें अनुभव कर उसका हल ढूँढ़ निकालें। इसी हेतु से टागोर का शांति-निकेतन, गांधीजी के चरखा-संघ और ग्राम-उद्योग-संघ जैसी मानवीय प्रयोग-शालाएँ स्थापित हुई हैं। ये उस प्रयोगात्मक बगीचे जैसी हैं, जहाँ विभिन्न किस्म के बीज और पौधों पर प्रयोग कर सारे देश के बगीचों को चुनिंदे बीज और पौधे पहुँचाये जाते हैं। इन प्रयोगशालाओं के अनुभूत प्रयोगों का निष्कर्ष आम जनता की जानकारी के लिए लोगों के संमुख रख दिया जाता है।

इसलिए हिंसा और द्वेषजनित जो तकलीफें मनुष्य के लिए निर्माण हुई हैं, उनके निवारण का जरिया ये सेवाभावी सेवक ही ढूँढ़ सकते हैं। सर्वसाधारण की दृष्टि से यदि योजना बनानी हो, तो वह बहुत दूर दृष्टि की, स्वार्थरहित और आम फायदेवाली होनी चाहिए। हरएक अपना-अपना फायदा देख लेगा, यह दृष्टि उसमें नहीं चाहिए। ऐसा जब होगा, तब समाज का अदना-से-अदना मनुष्य भी सामूहिक हित के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य कर सकेगा। उस हालत में जीवन केवल अंधानुकरण ही न होगा, न योग्य हेरफेरों द्वारा किया हुआ अनुकरण होगा, न कारखानों में बनी चीजों के लिए ग्राहक निर्माण करनेवाला होगा और न अपनी-अपनी जात-बिरादरियों या गुटों का ही हित देखनेवाला होगा। इस प्रकार के नियोजन में व्यक्तिगत और गुटगत हित तो पूर्ण होंगे ही, पर साथ-ही-साथ सारे समाज का भी हित होगा और अपने पड़ोसियों के हित पर आघात न करते हुए व्यक्तिगत विकास के लिए काफी गुंजाइश कर देगा।

• • •

जीवन के पैमाने : ११ :

पिछले अध्याय में निर्दिष्ट कारणों के अनुसार लोगों के व्यक्तित्व का विकास होने की दृष्टि से उनका सारा जीवन नियमित होना चाहिए। हम क्या खाते हैं, कैसे कपड़े पहनते हैं और किस प्रकार अपना जीवन-यापन करते हैं, इन सबका अपने निजी जीवन पर ही नहीं, वरन् मानवीय भविष्य पर भी काफी असर पड़ता है। जिस प्रकार किसी भी व्यक्ति के स्तर की ऊँचाई वह जीवन के कौनसे पैमाने इस्तेमाल करता है, इस पर से होती है, उसी प्रकार उसके जीवन का तरीका उसके व्यक्तित्व का दर्जा प्रकट करेगा। ऐसा करने के लिए कुछ निश्चित मानदण्ड निर्माण करने चाहिए, जो सबके लिए एक-से लागू हों। ये मानदण्ड निरपेक्ष होने चाहिए और ऐसे भी होने चाहिए कि उनकी बदौलत हरएक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास की और तमाम सुप्त शक्तियों के खिलने की पूरी गुंजाइश रहे। इन मानदण्डों में केवल शारीरिक और भौतिक चीजें ही निहित न रहकर वे असंख्य चीजें भी निहित रहें, जिनकी बदौलत मानवीय जीवन-पशुजीवन से भिन्न और उच्च माना जाता है। इन मानदण्डों में शरीर-यात्रा जारी रखने के लिए अन्न का समावेश होगा, आवश्यक वैद्यकीय सहायता निहित होगी, शरीर को ढँकने के लिए तथा कला और सौन्दर्य की वृद्धि के लिए कपड़े अभिप्रेत होंगे, शिक्षा का अन्तर्भाव होगा, जिससे जीवन विशाल और तेजयुक्त होगा, योग्य काम भी निहित होगा, जिसके द्वारा मनुष्य की तमाम सृजनात्मक शक्तियाँ खिल उठेंगी और अन्य वे सब सहचरी बातें उनमें अन्तर्भूत रहेंगी, जिनके द्वारा व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रगतियाँ सध सकेंगी।

ये सब आवश्यकताएँ पूरी होने के लिए मानदण्ड ऐसा होना चाहिए, जो व्यक्ति के साथ ही साथ समाज के लिए लागू किया जा सके। केवल एक

का ही विचार करने से काम न चलेगा। यदि किसी आदमी को अपनी इच्छा के मुताबिक सब कुछ करने की छूट रख दी जाय, तो यदि वह अन्धानुकरण करनेवाले वर्ग का या आत्मसात् करनेवाले वर्ग का होगा, तो उसके जीवन का तरीका समाज को प्रगति-पथ पर अग्रसर तो कर ही नहीं सकेगा, प्रत्युत शायद समाज को हानिकारक सिद्ध होगा। यदि वह भौतिक उत्पादन का हामी होगा, तो उसकी नयी कल्पनाएँ शायद दूसरे की कल्पनाओं से संघर्ष निर्माण करेंगी और इस प्रकार प्रगति रुक जायगी। यदि किसी कारखानेदार को पूरी छूट दे दी जाय, तो वह ऐसा प्रचार करेगा और ऐसे फैशन निर्माण करेगा, जिनके कारण उसके कारखाने की बनी चीजों की खपत बढ़े। प्रत्युत यदि केवल समाज के ऊपर ही सारी बातें छोड़ दी जायँ, तो व्यक्ति का एकदम कचूमर निकल जायगा और वह केवल एक यन्त्र के पुर्जे के समान बन जायगा। आज पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, फासिस्टवाद, नाजीवाद और समाजवाद में व्यक्ति की यही हालत है। आज दुनिया में उत्पादकों की तूती बोल रही है और वे जो चाहते हैं, वही होता है। पर इसमें भी कोई निश्चित योजना नहीं है; इसलिए कभी-कभी इनमें आपस में ही ठन जाती है। हरएक कारखानेदार अपनी-अपनी सूझ के मुताबिक उत्पादन करता है और परिणाम यह होता है कि जीवन के तरीकों में बहुत गड़बड़ी मच जाती है।

जब लोग जीवन के पैमाने की बातें करते हैं, तब वे वास्तव में क्या कहते हैं, यह समझना मुश्किल हो जाता है। जीवन का पैमाना, इसके कोई निश्चित मानी नहीं हैं। इसलिए कोई अर्थविशेष व्यक्त न करते हुए यह शब्द इस्तेमाल करना बिल्कुल आसान है। हरएक आदमी के जीवन के पैमाने की व्याख्या अलग-अलग हो सकती है। किसीकी दृष्टि में रेडियो और मोटरकार जीवन की कम-से-कम जरूरतें हो सकती हैं और दूसरा दोनों शाम पेटभर भोजन पाने को ही विलासी जीवन मान सकता है। इसलिए अपने देश की मौजूदा हालत मद्देनजर रखते हुए एक स्वतन्त्र मानदण्ड या पैमाना निश्चित करना चाहिए। इसकी

बुनियाद आर्थिक होनी चाहिए या सांस्कृतिक या सामाजिक ? जीवन का 'ऊँचा' पैमाना और 'नीचा' पैमाना, इनके मानी क्या हैं ? विभिन्न किस्म की भौतिक जरूरतें पूरी होने से क्या जीवन का पैमाना 'ऊँचा' कहा जा सकता है ? और यदि वैसी ही सीमित जरूरतें पूरी हुईं, तो क्या पैमाना 'नीचा' कहा जा सकता है ?

पिछले अध्यायों में जीवन-दर्शन के कई पहलुओं और उनके अलग-अलग मूल्यांकन के मानदंडों की हम चर्चा कर चुके हैं। वहाँ हम इस नतीजे पर पहुँच चुके हैं कि केवल निकट भविष्य के फायदे के आधार पर अथवा केवल रुपयों-पैसों में जीवन का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। जीवन की बुनियाद बहुत विस्तीर्ण होनी चाहिए और उसके कारण संतुलित समाज-व्यवस्था और अहिंसा कायम होनी चाहिए। मनुष्य केवल रोटी खाकर जिन्दा नहीं रहता, पर जिन-जिन अवसरों से उसका निजी विकास हो सकता है—अर्थात् उसके शरीर का, उसके मन का और उसकी आत्मा का विकास हो सकता है—उन सबकी बदौलत वह जिन्दा रहता है, क्योंकि इन्हींके कारण वह पूर्णत्व हासिल कर सकता है।

इंग्लैंड का जीवन का पैमाना ऊँचा है, ऐसा आम खयाल है। वहाँ का एक माली शायद दो मंजिलवाले मकान में रहेगा, जिसकी दूसरी मंजिल में उसके ३-४ सोने के कमरे होंगे, फ्लश के संडास होंगे और गुसलखाना होगा। नीचे एक बैठक, भोजन-गृह, उसीसे लगा बबर्ची-खाना और स्टोर तथा बर्तन मलने का कमरा होगा। सब खिड़कियों में काँच की झिलमिली लगी होगी, जिनमें ऊपर से लकड़ी के पल्ले और अन्दर से परदे लगे होंगे। दरवाजों पर भारी परदे होंगे, ताकि बाहर की हवा अन्दर न आ सके। फर्श पर दरियाँ बिछी रहेंगी और दीवालों पर कागज चिपके होंगे। हरएक कमरे के उपयोग के लिए आवश्यक, पर सस्ता सामान वहाँ मौजूद रहेगा। उदाहरणार्थ, भोजन के कमरे में एक टेबल रहेगी और उसके चारों ओर भोजन के समय खास इस्तेमाल की जानेवाली बिना हाथ की कुर्सियाँ होंगी। पास ही एक आलमारी होगी, जिसमें एक आईना लगा

होगा और जिसमें प्याले, तश्तरियाँ और तौलिये रखे होंगे। खाने के समय अलग-अलग चीजों के खाने के लिए अलग-अलग किस्म की तश्तरियाँ, काँटे, चम्मच आदि रहेंगे। जैसे 'सूप' (शोरवा) खाने के समय एक किस्म के प्याले और चम्मच, मछली खाने के समय अलग किस्म के काँटे, गोश्त खाते समय अलग किस्म के, मिठाई खाते समय अलग किस्म के, ऐसे वहाँ रखे रहते हैं। जो साधन जिस चीज के खाने के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं, उन्हीं साधनों से दूसरी चीज खाना गँवार-पन माना जाता है। परिणामतः जब एक मनुष्य खाना खाने बैठता है, तब उसके पास कम-से-कम ५० चीजें रहेंगी और उन्हें खाना खाने के बाद धोना पड़ेगा। यह आमतौर से जीवन का 'ऊँचा' पैमाना समझा जाता है।

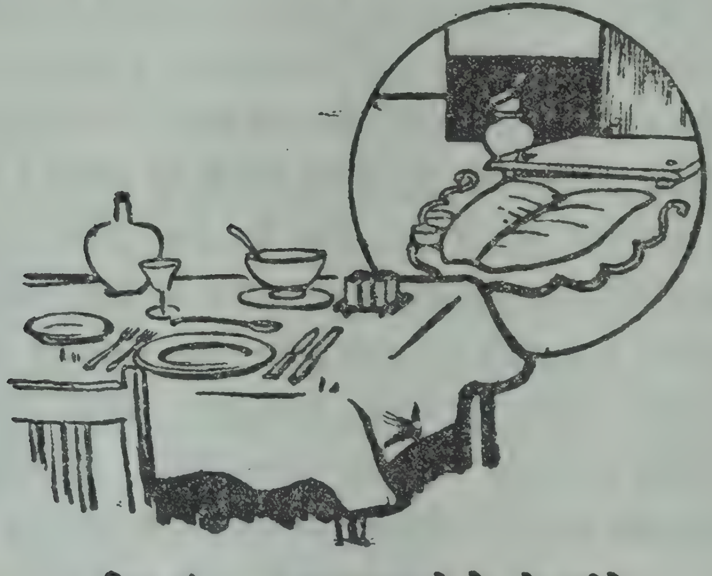

चित्र नं० १८. खाना खाने के दो तरीके

हिन्दुस्तान में यदि आप किसी सुसंस्कृत व्यक्ति को देखेंगे—उदाहरणार्थ, किसी देशी रियासत का दीवान, जो लाखों लोगों का भाग्य-विधाता होता है—तो पायेंगे कि वह यद्यपि एक आलीशान मकान में रहेगा, पर उसमें नाममात्र का भी फर्नीचर शायद ही हो। उसके बैठक-

खाने में शायद संगमर्मर या चीनी का फर्श होगा, पर उस पर दरी न होगी और वह हमेशा धोकर साफ रखा रहेगा। दक्षिण में बड़े-से-बड़े रईस लोग घरों में जूते पहनकर नहीं घूमते। यह दीवान भी अपने बँगले में नंगे पैर ही घूमेगा। भोजन के समय वह शायद एक आसन बिछाकर फर्श पर बैठ जायगा और एक केले के पत्ते पर परोसा हुआ भोजन कर लेगा।

काँटे और चम्मच से खाना उसे याद न होगा, इसलिए वह कुदरत द्वारा बख्शी हुई अँगुलियों का ही खाते समय उपयोग करेगा। उसके खाना खाने पर केले के पत्ते को धोने की जरूरत नहीं। उसे उठाकर फेंक दिया कि काम हो गया और जिसे तुरन्त शायद कोई बकरी चबा ले, जो अपने मालिक को इसका दूध ही देगी। खानेवाले की अँगुलियाँ धोने का ही काम रह जाता है। यह पैमाना ऊपर के पैमाने के विरोध में 'नीचा' या 'हल्का' माना जाता है।

अब हमें यह सोचना चाहिए कि यहाँ 'ऊँचा' या 'नीचा' या 'हलका', इन शब्दों का क्या ठीक-ठीक उपयोग हुआ? यदि मानदण्ड में कृत्रिम रीति से निर्माण की हुई भौतिक आवश्यकताएँ बहुतायत से होना जरूरी हो, तभी इन शब्दों का ठीक उपयोग हुआ, ऐसा कह सकते हैं। पर यदि हम खब्ती बनना पसन्द करें और जिसके कारण मनुष्य की सर्वोच्च भावनाओं का विकास होता है, उस चीज को श्रेष्ठ मानें, तो दीवान का जीवन 'ऊँचे' दर्जे का बन जायगा और अंग्रेज माली का 'हलका' हो जायगा। केवल भौतिक दृष्टि से ही पैमाना निश्चित करना हो, तो 'जटिल' और 'सादा' ये शब्द अधिक उपयुक्त होंगे। तब हम ऐसा कह सकेंगे कि दीवान के जीवन का पैमाना 'ऊँचा,' पर 'सादा' है और अंग्रेज माली के जीवन का पैमाना 'हलका', पर 'जटिल' है। ऐसा मालूम होता है कि वास्तव में 'जटिल' पैमाना ही कायम करने की लोगों की, खासकर कारखानेवालों की, मुराद रहती है; क्योंकि उसकी बदौलत उनकी चीजों की खपत होती रहेगी। पर उसे यदि जटिल कहा जाय, तो फिर कौन बुद्धिमान्

मनुष्य उसे अपनायेगा ? इसलिए इन लोगों ने 'ऊँचा' और 'हलका', इन शब्दों का प्रयोग खासकर रूढ़ कर दिया है।

जटिल पैमाना अपने उपासक को घानी के बैल के समान बना देता है। यदि अंग्रेज माली की स्त्री को सफाई का कुछ खयाल है, तो उसे सबेरे से रात तक अपने रोजाना के रसोई बनाने और बाजार-हाट करने के काम के अलावा दरियों को वैकूम क्लीनर से साफ करना, खिड़कियों के काँच साफ करना, परदे धोना, चादरें धोना, तश्तरियाँ, थालियाँ, रसोई के बर्तन माँजना और धोना आदि काम करते ही रहना पड़ता है। काँटे की हरएक दाँती को अच्छी तरह से धोने के लिए हाथ धोने की बनिस्बत कहीं अधिक समय लगता है। इसलिए जहाँ ऐसे जीवन के 'जटिल' पैमानों का बोलबाला रहता है, वहाँ की स्त्रियाँ बच्चों की परवरिश करने को एक आफत समझें, तो क्या कोई आश्चर्य है ? ऐसे देशों में 'कुत्तों और बच्चों की यहाँ मुमानियत है', ऐसी नोटिसें हर जगह दिखाई देती हैं। माता बनने से स्त्रियों के दैनिक कार्यक्रम का बोझ और भी बढ़ जाता है, इसमें कोई शक नहीं; पर इतना होते हुए भी वे 'जटिल' पैमानों से ही चिपकी रहती हैं। इस पर से उल्टी मूल्यांकन पद्धति की वे हामी हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। प्रचार, इश्तहार, नये फैशन निर्माण करना आदि के द्वारा कारखानेदार लोग स्त्रियों को जीवन का यह पैमाना स्वीकार करने के लिए प्रलुब्ध करते हैं, ताकि वे उनके माल की खरीदार बनी रहें। इस प्रकार केवल भौतिक चीजों से हमें बाँधकर रखनेवाले फन्दों से हम सचेत रहें, यही ठीक है।

अपना उल्लू सीधा करनेवाले लोग स्त्रियों की मेहनत बचानेवाले यन्त्र ईजाद कर उन्हें काम से फुरसत हासिल कराने का भ्रम निर्माण करते हैं। पर एक बार इस प्रकार के यन्त्र ने मनुष्य की जगह ले ली, तो फिर दूसरा यन्त्र ईजाद किया जाता है, जिसके खरीदने में पहले यन्त्र की बदौलत बचायी हुई रकम खर्च हो जाती है। इस प्रकार उस बेचारी स्त्री की हालत पहले से भी बदतर हो जाती है।

हम ऊपर के अंग्रेज माली की स्त्री का ही उदाहरण ले लें। प्रथम फर्श पर बिछी दरियाँ समय-समय पर मजदूरी से पटक-पटककर धोयी जाती थीं। बाद एक वैकूम क्लीनर का विक्रेता आता है, जो अपने यन्त्र की जोरदार तारीफ करता है और उसे समझाता है कि उस यन्त्र के इस्तेमाल से उसका हर साल कितना पैसा बचेगा और उसकी पूरी उम्र में ब्याज सहित कितनी बड़ी रकम हो जायगी! बेचारी स्त्री उसके झाँसे में आ जाती है और वैकूम क्लीनर खरीद लेती है। इससे हर साल उसके कुछ शिलिंग अवश्य बचते होंगे, पर अब उसे स्वयं इस मेहनत बचानेवाले यन्त्र से दरियाँ साफ करने की मेहनत करनी होगी। इस प्रकार कुछ सालों के बाद जब वह १०-५ पौंड बचा लेगी, तब एक दूसरा विक्रेता आयेगा और अपने तश्तरी धोने के यन्त्र की खूब तारीफ करेगा। यदि उस यन्त्र की कीमत स्त्री की बचत से अधिक होगी, तो वह अपना यन्त्र किश्तों में बेचने पर भी राजी हो जायगा और नगद कुछ पैसे लेकर यन्त्र उसके घर छोड़ जायगा। आगामी पाँच-सात साल की बचत उस यन्त्र की खरीद में देने के बाद कहीं उस पर उस स्त्री का पूरा स्वामित्व होगा। यन्त्र खरीद लेने पर वह स्त्री शायद अपने पड़ोस की बूढ़ी स्त्री को तश्तरियाँ आदि धोने के लिए मजदूरी पर बुलाना बन्द कर देती है और इस प्रकार यद्यपि वह प्रति हफ्ता कुछ शिलिंग बचा लेती है, पर मशीन पर उसे खुद काम करना पड़ता है। यदि वैकूम क्लीनर या तश्तरी धोने का यन्त्र बिगड़ जाता है, तो कम्पनी का आदमी आकर उसे दुरुस्त करता है और इस प्रकार बची हुई रकम का कुछ हिस्सा हड़प जाता है। इस प्रकार बची हुई मेहनत और रकम दोनों कारखानेवाले हड़प जाते हैं और बेचारी मालिन काम किये ही जाती है। उसे अपने यन्त्ररूपी मजदूरों की देखभाल स्वयं करनी पड़ती है, अर्थात् उसे जो फुरसत दिलाने की बात की गयी थी, वह मृगजल समान साबित हुई और जो कुछ वह बचत करती है, वह दूसरा कोई मिहनत बचानेवाला यन्त्र खरीदने में खर्च हो जाती है। इस प्रकार 'दुविधा में दोनों गये,

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
BANGALORE-1.

माया मिली न राम' वाली कहावत चरितार्थ होती है। जिस बुड्ढी को उसके काम से रुखसत मिली, वह निरुपाय होकर मजदूरी पाने के लिए कारखाने में हाजिर होगी। ऐसों की क्या हालत होती है, सो हम आगे देखेंगे।

क्या मालिन के जीवन का पैमाना इस नये तरीके से बदल गया या उसे अपने उच्च विचारों को खुलकर खेलने का मौका मिल गया? क्या इस जटिल पैमाने से उसे मनन और आत्मनिरीक्षण के लिए अधिक समय मिला? प्रत्युत चूँकि हर काम उसे खुद ही करना पड़ता है, इसलिए शायद उसे कोई मासिक पत्र खोलकर देखने की फुरसत न मिलती होगी। सबेरे से लेकर रात तक वह लदे हुए गदहे के समान काम करती ही रहती है। यह सब किसलिए? उसकी जिन्दगी ऐसे कामों से भर जाती है, जिनसे सच्चे जीवन का थोड़ा-सा दर्शन भी नहीं होता। क्या यह सच्चे अर्थ में 'जीवन' है? यह तो पशुवत् जीवन कहा जा सकता है।

इसके विपरीत सादा जीवन ऊँचा हो सकता है, क्योंकि उसमें मनुष्य-जीवन की सर्वोच्च बातें आ सकती हैं। जटिल जीवन में कोई मौलिकता नहीं होती, क्योंकि उसमें दूसरों द्वारा निर्माण किये हुए फैशन अपनाये जाते हैं।

भोजन के सवाल पर ही यदि हम विचार करें, तो वह चाहे पाश्चिमात्य पद्धति से किया जाय, चाहे हिन्दुस्तानी पद्धति से, उसकी पोषकता में कोई फर्क नहीं पड़ता। हिन्दुस्तानी पद्धति में सस्ताई के साथ-ही-साथ सफाई भी रहती है और उसके भोजन परोसने में अपनी कलात्मकता का भी परिचय दिया जा सकता है। ताजे हरे पत्ते पर परोसा हुआ भोजन कितना सुन्दर मालूम होता है। दूध समान सफेद चावल या चपाती, पीली दाल, सफेद दही, लाल चटनियाँ, मटीले अचार, लाल टमाटर, बहुरंगी सलाद आदि भोजन के शुरू में बहुत सुहावने लगते हैं। भोजन खतम होने पर पत्ते फेंककर फर्श धो दिया कि काम खतम। भोजन करनेवाले भी भोजन के बाद हाथ, मुँह और दाँत निरपवाद धोते हैं और कुल्ला

करते हैं, जो स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत अच्छा है। पर जो लोग काँटे और चम्मच इस्तेमाल करते हैं, उन्होंने यह प्रथा छोड़ दी है। यदि बहुत हुआ, तो वे धीरे से अपनी दो, तीन अँगुलियाँ पानी में डुबोकर उनसे अपने ओंठ गीले करके तौलिये से पोंछ लेते हैं। तो फिर जटिल पाश्चिमात्य पद्धति की श्रेष्ठता कहाँ रही ? जटिल पद्धति से खर्च सिर्फ बढ़ता है और उल्टे परिमाण में सफाई और कलात्मकता कम हो जाती है। इसलिए पाश्चिमात्य पद्धति 'ऊँची' न कहकर 'जटिल' कहना और अपनी पद्धति को 'नीची' न कहकर 'सादी' कहना अधिक उचित होगा।

रहन-सहन की एक पद्धति-विशेष में किसीका दर्जा ऊँचा और किसीका नीचा हो सकता है। यदि कोई महीन सूत की धोती पहनता है, तो उसका दर्जा बनिस्बत उसके जो मोटी धोती पहनता है, 'ऊँचा' कहा जा सकता है। पर जो पश्चिमी पद्धति के बने सूट, बूट, हैट, नेकटाई और कॉलर लगाता है, वह केवल धोती और कुर्ता पहननेवाले से श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता। हैटवाला निरा अनुकरणप्रिय ही कहा जा सकता है, पर धोतीवाला अपनी मौलिकता कायम रख सकता है, क्योंकि वह अपने इच्छानुसार अपने ही स्थान पर अपनी धोती बुनवा ले सकता है। यहाँ की आबोहवा की दृष्टि से तो धोतीवाला अधिक विवेकशील मालूम होता है। इसी प्रकार यदि कोई केवल चावल और मिर्च खाकर ही रहता है, तो उसका जीवन का पैमाना संतुलित आहार लेनेवाले मनुष्य से निःसंशय 'नीचा' कहा जा सकता है।

यह तो स्वयंसिद्ध बात है कि परोपजीवी और आक्रामक व्यवस्था-वाले लोग सेवाभावी लोगों से निकृष्ट दर्जे के ही होते हैं। एक करोड़पति खुद के लिए कितने भी रुपये क्यों न खर्च करता हो, पर वह उस आश्रमी व्यक्ति से, जिसने अपनी सारी आयु देश-सेवा के लिए अर्पण कर दी है, निश्चय ही निचले दर्जे का होगा।

ऊपर हमने जो दीवान का उदाहरण दिया है, वह समूहप्रधान व्यवस्था के व्यक्ति का प्रतीक है। उसका जीवन का पैमाना एक अंग्रेज

माली के जीवन के पैमाने से निस्संशय ऊँचा रहता है। यह अंग्रेज माली स्पर्धाप्रधान व्यवस्था का प्रतीक है।

आजकल स्पर्धा में उतरकर अपना जीवन अधिक पेचीदा बनाकर अधिकाधिक फैशन करने की हवा चल पड़ी है। ऐसा करने से हम मनुष्यत्व खो बैठते हैं, इसकी कोई फिक्र नहीं करते।

अमेरिका में जीवन ढालने की नयी कल्पनाएँ प्रसृत की जाती हैं, जिससे वहाँ का कौटुम्बिक जीवन तहस-नहस हो रहा है। वहाँ मियाँ-बीबी एक या दो कमरेवाला मकान किराये से लेकर, मेहनत बचानेवाले यंत्रों की सहायता से अपनी जीवन-यात्रा शुरू करते हैं। सबेरे उठकर पति-पत्नी दोनों ही अपने-अपने काम पर हाजिर होने के लिए चल पड़ेंगे। रास्ते में ही जल्दी-जल्दी में किसी होटल में जाकर सबेरे का नाश्ता कर लेंगे, दोपहर का खाना कारखाने की ओर से चलनेवाले होटल में कर लेंगे। शाम को जब दोनों काम से लौटेंगे, तब किसी अच्छे रेस्टारेंट में जाकर अच्छा खाना खा लेंगे और उन दोनों को मिलकर यदि अच्छी खासी आमदनी होगी, तो मोटर में बैठकर किसी सिनेमा को चले जायेंगे और वापस लौटकर अपने कमरे में कुछ देर रेडियो सुनेंगे। जिसे घर की व्यवस्था कहते हैं, उसका तथा बाजारहाट करने का उन्हें कभी खयाल ही नहीं आता। बच्चों से उन्हें काफी नफरत रहती है, इसलिए कृत्रिम उपायों से वे बच्चे न होने देंगे। बच्चे होने से उनके जीवन के 'ऊँचे' पैमाने को ठेस लगने की संभावना है। ये ही वे लोग हैं, जो कारखानेदारों द्वारा निर्माण किये हुए जीवन के 'ऊँचे' पैमाने को स्वीकार कर कारखानों के मजदूर बनकर उनकी गुलामी में खुशी मनाते हैं। अंग्रेज माली की स्त्री को समय-समय पर मदद करनेवाली मजदूर स्त्री तथा घरों में अन्य काम करनेवाले मजदूर, सब कारखानों की ओर घसीटे जाते हैं और इस प्रकार माली के जीवन का पैमाना 'ऊँचा' उठा हुआ दिखाई देता है।

इन 'ऊँचे' पैमानों का पुरस्कार किसी परोपकार की दृष्टि से नहीं किया जाता, बल्कि स्वार्थसाधु लोगों द्वारा अपने हित के लिए किया जाता

है। इस प्रकार कारखानों के मालिक मजदूरों को अपने कारखानों की ओर तो आकृष्ट करते ही हैं, पर साथ-ही-साथ इस प्रकार के झूठे पैमाने निर्माण कर अपने नौकरों की आजादी भी छीन लेते हैं। मजदूर की दुनियावी जरूरतें जितनी अधिक होती हैं, उतनी ही उसकी मालिक से लोहा लेने की ताकत कम होती है।

यदि मिल-मालिक चाहता है कि उसके मजदूर बिला नागा किये, नियमपूर्वक काम पर हाजिर रहा करें, जिससे उसकी मिल का उत्पादन एक-सा बना रहे, तो वह अपने मजदूरों का जीवन विविध आवश्यकताओं से भर देगा और यही जीवन का 'ऊँचा' पैमाना है, ऐसा आभास खड़ा करेगा। इसके लिए वह मजदूरों को अधिक मजदूरी देगा, उनके मनोविनोद के लिए काफी खर्च करेगा और उन्हें कारखानों में प्राप्त सुविधाओं का—जैसे क्लब, चायघर, खेलकूद, सिनेमा, अच्छे मकान आदि—आदी बना देगा। मजदूर इन बातों का आदी बन जाने से अपने नैतिक अधिकारों पर मालिक द्वारा आक्रमण होता हुआ देखकर भी इन सुविधाओं के मोह के कारण अपना स्थान छोड़ना नहीं चाहता। इतनी विविध आवश्यकताएँ पूरी करना काफी खर्च की बात हो जाती है और यदि दुर्भाग्य से उसकी नौकरी छूट जाय, तो वे पूरी करना उसके लिए मुश्किल हो जाता है। इसलिए फिर वह सोचता है कि और चाहे कुछ भी हो, चूँकि उसकी तथाकथित जरूरतें यहाँ पूरी होती हैं, इसलिए थोड़ा अन्याय सहन करके भी यहीं पड़े रहो। इस प्रकार वह अपनी स्वतंत्रता खो बैठता है और कारखाने से मानो चिपक जाता है। इस प्रकार का पैमाना याने बैल की नथनी जैसा है। मजदूर की स्वतंत्र बुद्धि की हत्या करने और मालिक की मर्जी के अनुसार उसे काम करने के हेतु बाध्य करने के लिए इस नथनी का उपयोग किया जाता है।

विदेशी सरकारें अपने नौकरों को जो ऊँची तनख्वाहें देती हैं, उसका भी यही मतलब होता है। कई देशभक्तों के ऊँची तनख्वाह की लालच में पड़कर अपनी देशभक्ति छोड़-छोड़कर सरकारी नौकरियों में घुसने के

उदाहरण हैं। वहाँ उनकी बुद्धि इतनी भ्रष्ट हो जाती है कि वे स्वजनों पर भी काफी अत्याचार करने के लिए तैयार हो जाते हैं। सरकारी नौकर बनने के पहले वे ऐसा कदापि न करते।

पूँजीपति और मजदूर के बीच यदि मनमुटाव हो जाता है, तो पूँजीपति कई दिन तक बिना मजदूर के निभा सकता है और मजदूरों की संघर्ष की ताकत खतम होते तक वह चुपचाप बैठा रहता है। मजदूरों का गुजारा चूँकि मजदूरी पर ही रहता है और उसके पास कोई संचित धन नहीं रहता, इसलिए उसे शीघ्र ही शरणागति स्वीकार करनी पड़ती है। पर वे मजदूर, जिनकी रहन-सहन सादी और आवश्यकताएँ कम रहती हैं, अधिक आवश्यकताओंवाले मजदूरों की बनिस्बत अधिक दिनों तक जूझ सकते हैं। इसलिए मिल-मालिक इसी फिराक में रहता है कि अपने मजदूरों की आवश्यकताएँ बढ़ाकर उसकी रहन-सहन अधिक खर्चीली कैसे बना दी जाय, क्योंकि ऐसा करने से वह जानता है कि मजदूर कभी उसके सामने टिक नहीं सकेंगे। मजदूरों की इस स्थिति के साथ-ही-साथ हम ऊपर देख ही चुके हैं कि इस प्रकार जीवन खर्चीला हो जाने से कारखाने की बनी चीजों की खपत भी बढ़ जाती है। इसलिए विविध आवश्यकताओंवाला जीवन का पैमाना कारखानों का उत्पादन कायम रखने और उनकी खपत बढ़ाने में सहायक होता है।

अमेरिका सरीखे उद्योगप्रधान राष्ट्र, ऊँचे दर्जे का स्वार्थ साधने की दृष्टि से, इस नीति को अपनाते हैं, पर यह मनुष्य की आजादी का हरण करती है और उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए गुंजाइश नहीं रखती।

आवश्यकताओं की विविधता निर्माण करनेवाला जीवन का पैमाना अन्य कई दृष्टियों से भी हेय ही है, पर चूँकि उनका जनसाधारण से सम्पर्क बहुत कम होता है, इसलिए यहाँ उनमें से थोड़ों का दिग्दर्शन करेंगे।

ऊपरी तड़क-भड़क दिखाने के लिए विविध आवश्यकताएँ निर्माण करना जरूरी होता है। एक लखपति अपना बड़प्पन या अपनी खासियत

दिखाने के लिए अपने नौकरों को एक-सी पोशाक दे सकता है। इस पोशाक को पहननेवाले का व्यक्तित्व खतम हो जाता है और वह निरा नौकर रह जाता है। वह 'रामा' या 'दीन मुहम्मद' नहीं रह जाता, पर चपरासी, बैरा, छोकरा या ड्राइवर बन जाता है। इन बेचारों की औकात नहीं कि ये निजी पैसों से ऐसी अच्छी पोशाकें पहन सकें, इसलिए ये अपने यूनिफॉर्म की पोशाक पर नाज करते हैं। ऊपरी तड़क-भड़क को जो फिजूलखर्ची कहा गया है, वह बिलकुल सही है। हमारे जैसे गरीब देश में तो उसे गुनाह ही माना जाना चाहिए। 'मेरे समान दूसरा कोई नहीं है' यह दिखाने के लिए भी अधिक आवश्यकताओं का पैमाना उपयुक्त होता है। रेल में सफर करते समय पहले दर्जे में बैठना और अधिक किराया देकर भी अमीर-उमरावों में रहने की कोशिश करना इस प्रवृत्ति के उदाहरण गिनाये जा सकते हैं।

समूचे देश के लिए कोई एक पैमाना लागू नहीं किया जा सकता। कोई भी पैमाना तय करते समय स्थानविशेष की पौष्टिकता की पूर्ति, आबोहवा, मानव की उन्नति की सुविधाओं और व्यक्तित्व के विकास के अवसर आदि पर विचार करना पड़ेगा।

दक्षिण हिंदुस्तान में मुख्य खुराक चावल हो सकती है, पर वह बिना छड़ा होना चाहिए और उसके साथ-ही-साथ समुचित परिमाण में दूध, दाल, साग और चर्बी आदि भी मिलने चाहिए। यहाँ की आबोहवा ऐसी है कि बहुत से कपड़ों और जूतों की जरूरत ही न पड़े और एक चटाई ही सोने के लिए काफी हो जाय। उत्तर में चावल की जगह गेहूँ आ जायगा और दूसरी चीजें जैसी की वैसी बनी रहेंगी। पर यहाँ ठंड बहुत तेज पड़ती है, इसलिए कपड़े अधिक लगेंगे, जूते पहनना और शायद खटिया या पलंग पर सोना भी जरूरी होगा। इससे यह मालूम हो जायगा कि एक जगह जो चीज आवश्यक होती है, वही दूसरी जगह फिजूल मालूम देती है। इसलिए स्थानिक परिस्थिति देखकर ही उस जगह का जीवन का पैमाना निश्चित करना जरूरी हो जाता है।

यदि मानदंड शाश्वत व्यवस्था और अहिंसा की ओर ले जानेवाला हो, तो उसे लोगों की मौजूदा व्यवस्था के अनुकूल रहना ही पड़ेगा। हम पहले एक अध्याय में देख ही चुके हैं कि कुदरत का चक्र किस प्रकार चलता रहता है, एक इकाई का जीवन दूसरे के लिए किस प्रकार पूरक बनता है और यदि इस चक्र में कहीं खलल पड़ जाय, तो किस प्रकार हिंसा निर्माण होकर सर्वनाश हो जाता है। जीवन का पैमाना ऐसा निश्चित होना चाहिए कि उसमें व्यक्ति की सुप्त शक्तियों के विकास और उसके आत्मप्रकटीकरण की पूर्ण गुंजाइश रहते हुए एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से संबंध जुड़ा रहे, ताकि अधिक बुद्धिमान् या कलावान् व्यक्ति अपने से कम बुद्धिवालों और कलावालों को अपने साथ लेकर आगे बढ़ते चलें।

अंग्रेज माली के बिछौने स्प्रिंगवाले होंगे। वे कारखानों में बने होंगे और उन कारखानों में शायद वे ही लोग मजदूरी करते होंगे, जो पहले इसी माली के यहाँ कालीन धोने और बर्तन मलने का काम किया करते और जो माली द्वारा मेहनत बचानेवाले यंत्र खरीदे जाने के कारण बेकार हो गये थे, जो कारखाने के मालिक की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के आकर्षण से मोहित होकर कारखाने में दाखिल हो गये। यदि इन बिछौनों का कोई स्प्रिंग टूट जाय,तो कारखाने के आदमियों को ही उसे दुरुस्त करने के लिए बुलाना पड़ेगा। इस प्रकार पड़ोस के व्यक्ति-व्यक्ति के बीच का संबंध तोड़नेवाले इन बिछौनों का लोगों के जीवन से कोई ताल्लुक नहीं रहता।

हमारे दीवान साहब की रहन-सहन सादी, पर ऊँची होगी। वे शायद चटाई पर ही सोयें, पर वह चटाई रेशम से बुनी और घास की एक सींक के ३२ या उससे भी अधिक धागे निकालकर, पट्टमड़ाई पद्धति से बुनी गयी होगी। ये चटाइयाँ, जो तकिया और गद्दों से भी ठंडी रहती हैं, स्थानिक घास से ही बनायी जाती हैं। इनके बनाने में चटाई बुननेवालों को अपनी कला अधिकाधिक विकसित करने और आत्मप्रकटी-

करण के लिए काफी गुंजाइश है। इन चटाइयों को बुनते समय ही वे उनमें भिन्न-भिन्न किस्म की आकृतियाँ निर्माण करते हैं और ये इतनी नरम होती हैं कि रेशम के कपड़े के माफिक तह करके रखी जा सकती हैं। वे धोयी जा सकती हैं, इसलिए साफ भी रहती हैं। ऊँची किस्म की चटाइयों की कीमतें भी ऊँची ही होती हैं। इस्तेमाल किया हुआ माल और चटाई में की गयी कारीगरी के अनुसार इनकी कीमतें ८ आने की जोड़ी से लेकर २००) की एक तक रहती हैं। इन चटाइयों के खरीदने में दीवान साहब का जो पैसा खर्च होगा, वह सीधा चटाइयाँ बुननेवाले कुटुंबों की सहायता और पालन में लग जायगा। इस प्रकार स्थानिक घास की बनी चीज स्थानिक उपयोग में ही आ गयी और उसका पैसा भी उसी क्षेत्र के कलाकारों की गुजर-बसर में काम आ गया। यह एक कुदरती चक्र पूरा हुआ। इस प्रकार के आर्थिक ढाँचे को कायम रखने के लिए फौज, समुद्री बेड़ा और हवाई जहाज आदि किसीकी कोई जरूरत नहीं, क्योंकि उसे न तो कहीं से कच्चा माल प्राप्त करना पड़ता है और न तैयार माल बेचने के लिए क्षेत्र ढूँढ़ना पड़ता है। इस प्रकार हिंसा का यहाँ कोई काम नहीं रहता। पर यदि हमारे दीवान साहब अपने जीवन के पैमाने में इंग्लैण्ड के बने स्प्रिंग के पलंगों को स्थान दें, तब तो हिंसा अवश्य निर्माण हो जायगी।

उसी प्रकार दीवान साहब की धोती महीन खादी की होने से उसके कारण स्थानिक कत्तिनों और बुनकरों को उन्नति के लिए काफी अवसर मिलेगा।

इस प्रकार हमें देखना चाहिए कि हमारी हरएक आवश्यकता की चीज हमारे आसपास के कच्चे माल से और आसपास के ही कारीगरों द्वारा बनायी हुई हो, तभी हमारा आर्थिक ढाँचा पक्का बनेगा। तभी हम शाश्वत व्यवस्था की ओर अग्रसर होंगे, क्योंकि उस हालत में हिंसा निर्माण न होकर सर्वनाश होने की कोई संभावना नहीं रहेगी।

बहुधा जीवन का पैमाना व्यक्त करने के लिए रुपये-पैसे का और

माल का उपयोग किया जाता है, पर अपने आसपास के लोगों के जीवन का कोई खयाल नहीं किया जाता। ऐसे पैमाने ऊपर से लादे हुए रहते हैं, इसलिए वे कभी चिरकालीन नहीं हो सकते। अंग्रेज माली के जीवन का पैमाना उस तरह का बना हुआ है। ऐसे पैमानों से जीवन की विविधता नष्ट हो जाती है और विविधता ही समाज का प्राण है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि जीवन की तमाम बारीकियों को निर्दिष्ट करने की जरूरत नहीं है। कम-से-कम क्या करना

चित्र नं० १९. नग्न रहने का फैशन और गरीबी के कारण लाचारी में फटे-पुराने कपड़ों से तन ढाँकना

जरूरी है, यह तय करके लोगों की उत्पादन-शक्ति उस ओर मोड़ना और उसके लिए अनुकूल वातावरण निर्माण कर आवश्यक कच्चा माल प्राप्त करा देना काफी है। बाद में वे अपनी सूझ-बूझ से काम करने लग

जायँगे। यदि किसी हौज में के पानी की सतह ऊपर उठानी हो, तो हमें उसमें के पानी का मिकदार बढ़ा देना चाहिए। इससे पानी की सतह आप ही आप ऊँची उठ जायगी।

हमारे देश के लोग यदि भरपेट नहीं खाते या नंगे बदन घूमते हैं, तो उसका सीधा कारण यही है कि उन्हें काफी खुराक और कपड़ा मिलता ही नहीं! क्या खाना चाहिए और क्या पहनना चाहिए, यह वे जानते हैं। उन्हें इनकी अनुसूची की जरूरत नहीं; पर प्रत्यक्ष खुराक और कपड़े की जरूरत है। इसलिए हमें चाहिए कि हम इनको उचित परिमाण में खुराक और कपड़ा पैदा करने योग्य परिस्थिति निर्माण कर दें; रहन-सहन आप ही आप ऊँची उठ जायगी। इस प्रकार बने हुए पैमाने की जड़ें लोगों के जीवन तक पहुँच जाती हैं, इसलिए वे शाश्वत रहती हैं और इन पर से लोगों की संस्कृति और बुद्धिमानी दीख पड़ती है।

अंग्रेज माली के जीवन का उसके पड़ोसियों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिए वह व्यक्तिगत जीवन ही कहा जा सकता है। उसके जीवन का पैमाना उसके घर की चार दीवालों के अन्दर ही रह जाता है। 'अंग्रेज का घर याने उसका किला है' ऐसा जो कहा जाता है, वह एकदम सही है; क्योंकि उसके अन्दर के लोगों को ऐशो-आराम की कितनी ही चीजें क्यों न हों, पर उसका बाहर के लोगों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। हमारे यहाँ जो पश्चिमी पद्धति का जीवन व्यतीत करते हैं, वे भी लोक-जीवन से इसी प्रकार दूर रह जाते हैं।

हम जो पैमाना कायम करना चाहते हैं, वह किसी एक कुटुम्ब या जाति के लिए नहीं है, बल्कि आम जनता के लिए है। इसका यह मतलब हुआ कि उसमें सबका जीवन ग्रथित होगा। हमारी पुरानी ग्राम-संघटन-प्रथा में ऐसी ही कुछ कोशिश दिखाई देती है, क्योंकि उस व्यवस्था के अनुसार गाँव के हरएक व्यक्ति को गाँव की पैदावार का निश्चित हिस्सा अपने गुजारे के लिए मिला करता था। इस हिस्से को 'बलुता', 'पाड़ि' आदि कहा करते थे। इस पद्धति से यह साफ जाहिर

होता है कि समूचा गाँव एक इकाई माना गया था। पर हम केवल जिन्दा ही नहीं रहना चाहते, हम साथ-ही-साथ मनुष्य की उच्च सुप्त शक्तियों के विकास की गुञ्जाइश भी चाहते हैं।

हमारे दीवान साहब को ही लीजिये। यदि वे अपने कागज-पत्र रखने के लिए चमड़े की पेटी बनवाना चाहेंगे, तो वे गाँव के मोची को बुला भेजेंगे और चमड़ा कैसा होगा, पेटी का आकार कैसा होगा, उसका नाप क्या होगा आदि बातें समझा देंगे। अब मोची चमार को बुलाकर उस किस्म का चमड़ा पकाने को कहेगा। इतना सब करते हुए कई सवाल खड़े होंगे और वे हल करने होंगे। इसके लिए काफी बुद्धि और शक्ति खर्च करनी पड़ेगी। इस प्रकार दीवान साहब की जरूरत के कारण कई लोगों को सोचने-विचारने का मौका मिल गया। पर इसके बजाय अपनी जरूरत पूरी करने के लिए यदि दीवान साहब किसी ब्रिटिश स्टोर में जाकर तैयार पेटी खरीदते, तो वह ठीक जैसी उन्हें चाहिए थी, वैसी ही होगी, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जितनी बनी-बनायी पेटियाँ वहाँ मौजूद होंगी, उन्हींमें से कोई एक उन्हें चुनना पड़ेगा। सम्भव यह भी है कि उन्होंने शायद विचार भी न किया होगा कि उन्हें किस किस्म की कितनी बड़ी पेटी खरीदनी है। यह सोचने का काम केवल उनके लिए ही नहीं, बल्कि आम जनता के लिए कारखानेवालों ने प्रथम ही कर लिया होगा। यदि दीवान साहब अपने पड़ोस के मोची से यह चीज बनवाते हैं, तो उन्हें स्वयं सारी बातें सोचनी पड़ेंगी और बाद में वे ऑर्डर देंगे। इस प्रकार उपभोक्ता का जीवन और उसके विचार उत्पादक के जीवन और कार्यशक्ति से बहुत नजदीकी रिश्ता रखते हैं। दोनों एक-दूसरे की समस्याओं को हल करने की कोशिश करते हैं। हमारे व्यक्तिगत जीवन परस्परावलम्बी हैं। इसलिए जो पैमाना हम निश्चित करेंगे, वह एक रेशम के धागे जैसा होगा, जिसमें समाज के रत्नरूपी घटक पिरोये जाकर एक सुन्दर माला तैयार होगी। दीवान साहब का जीवन ठीक ऐसा ही है। क्योंकि उनका जीवन केवल कत्तिनों, बुनकरों, चटाईवाले, चमार, मोची

आदि के जीवन के साथ ही नहीं, बल्कि उनकी पत्तल खानेवाली बकरी सरीखे गूँगे जानवर के जीवन से भी जोड़ दिया गया। कोई भी आदमी केवल अपने ही लिए नहीं जीता। जब कारखाने की बनी चीजें इस्तेमाल की जाती हैं, तब अपने आसपास के लोगों से ऐसा कोई सीधा सम्बन्ध नहीं आता। उस हालत में हमारे जीवन का पैमाना निर्जीव यन्त्रों के साथ जोड़ दिया जाता है और उनमें कोई सुप्त शक्ति नहीं रहती, जो विकास पाये।

इसलिए हम जो पैमाना निश्चित करें, उसकी बदौलत समाज के अंग-प्रत्यंग में शुद्ध सहकारिता निर्माण होनी चाहिए। ऐसे पैमाने से अलग-अलग व्यक्तियों का ही फायदा नहीं होगा, बल्कि वह समूचे समाज को इकट्ठा बाँधनेवाला साबित होगा। उसके कारण एक-दूसरे पर विश्वास निर्माण होगा, परस्पर मेल होगा और सुख मिलेगा।

कच्चा कपास का एक-एक तन्तु अपने तईं बिलकुल कमजोर होता है। पर जब ऐसे करोड़ों तन्तु इकट्ठे कर उनको बँट दिया जाता है और ऐसे बँटे हुए धागों का मोटा रस्सा बनाया जाता है, तब वह बड़े-बड़े जहाजों को खींचने के काम आता है। संतोषकारक जीवन के पैमाने से यही बात होनी चाहिए। उसके कारण उपभोक्ता और निर्माता को एक-दूसरे के इतने निकट आ जाना चाहिए कि तमाम समाज एक ठोस पत्थर-सा बन जाय। वही कायम रहने का दावा कर सकता है।

● ● ●

काम

आये दिन इस शब्द का उपयोग किया जाता है, पर बहुत कम लोग इस शब्द के असली मतलब को समझने की कोशिश करते हैं। काम का असली मतलब क्या है? कुदरत की व्यवस्था में उसका क्या स्थान है?

आज सारे राष्ट्रों के सामने यही समस्या मुँह बाये खड़ी है कि राष्ट्र के लाखों व्यक्तियों को काम कैसे दिया जाय, इसलिए यह जरूरी है कि काम का असली मतलब अच्छी तरह से समझ लिया जाय। पिछले एक अध्याय में हम देख चुके हैं कि जमीन के कीड़े किस प्रकार उसे खाद देते हैं, पक्षी किस प्रकार बीज, वाहक और बीज बोनेवाले बनते हैं, मधुमक्खियाँ किस प्रकार फूलों को फलित करती हैं। यह देखने से पता चलता है कि हरएक चीज अपना-अपना कर्तव्य करते हुए दुनिया को भी कायम रखने में सहायक होती है।

मनुष्य के बारे में भी हमने जिक्र किया कि जीवन क्या है और केवल जिन्दा रहने और जीवन व्यतीत करने में क्या भेद है। अन्य कुदरती जीवों में और मनुष्य में फर्क यह है कि वह अपनी बुद्धि का उपयोग कर कुदरत के कई तत्त्वों को इकट्ठा कर सकता है, ताकि वे अपना-अपना काम अधिक अच्छी तरह पूरा कर सकें। ऐसा करने में वह अपनी सुप्त शक्तियों का विकास कर सकता है और आनेवाली समस्याओं को वह किन तरीकों से हल करता है, इससे उसका व्यक्तित्व भी प्रकट हो सकता है। यही मनुष्य के लिए काम है और यही उसका मकसद है।

बाह्य तड़क-भड़क के वातावरण को छोड़कर यदि हम उसके विशुद्ध स्वरूप को देखें, तो काम मनुष्य के प्राचीन इतिहास में असली स्वरूप में नजर आता है। जब मनुष्य का रास्ता पशुओं की सहज प्रवृत्ति को छोड़ चला और उसने अपने लिए पत्थर के औजार बनाये, तभी से काम की

असली शुरुआत हुई। मनुष्य का यह काम हुआ कि वह अपनी बुद्धि, दूर दृष्टि और साधन-प्रचुरता से अपनी सारी जरूरतें पूरी कर ले—ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार एक पक्षी अपना घोंसला बनाता है और खुराक के लिए इधर-उधर भटकता है। अपने-आपको खुश रखने और अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए मनुष्य काम करता था। अपनी आवश्यकता की पूर्ति के सिवा दूसरी कोई मजदूरी उसे नहीं मिलती थी। इस प्रवृत्ति से उसकी सुप्त शक्तियाँ तेज होती थीं और उसके दिमाग के लिए काफी खुराक जुटा देती थीं। वह अपना शिकार अपनी सादी गुफा में ले आता था और घर की स्त्रियाँ उसे अच्छी तरह तैयार कर और पकाकर उसे खाने योग्य बना देती थीं। इस प्रकार स्त्रियों के गृहस्थी के काम की शुरुआत हुई। आज दिन तक, कम-से-कम अपने देश में, स्त्रियों के काम का शुद्ध स्वरूप—अपने घर में अपने हाथों अपनी जरूरत की चीजें पूरी करना ज्यों-का-त्यों चला आ रहा है।

काम के घटक—काम का पृथक्करण करने से उसमें कई घटक पाये जाते हैं और हरएक घटक मूल ध्येय-प्राप्ति के लिए आवश्यक ही है। उसके मुख्य चार अंग हैं: मेहनत, आराम, प्रगति और सन्तोष। इनमें से किसी एक को दूसरों से अलग नहीं किया जा सकता। उसका मेहनत का भाग एक को, आराम का दूसरे को और सन्तोष का तीसरे को, ऐसा नहीं बाँटा जा सकता। संगीत में हरएक गाने का अलग-अलग ताल रहता है और उस ताल का ठीक-ठीक आश्रय लिये बिना उस गाने में रंग नहीं भरता। यदि कोई संगीत-शास्त्री बनना चाहे, तो उसे कई घण्टों तक ताल और सुर की मेहनत करनी पड़ेगी। तभी वह अपने संगीत में अपनी भावनाएँ उँड़ेल सकेगा। यह मेहनत का काम कोई दूसरा करे और संतोष या सुख दूसरे किसीको मिले, यह सम्भव नहीं। कोई रेडियो पर पर संगीत सुनकर श्रवण-भक्ति भले ही प्रकट करे, पर उससे कोई संगीत-शास्त्री नहीं बन सकता। इसी प्रकार कोई भी करने लायक चीज का लगातार अभ्यास जरूरी है।

दूसरा उदाहरण खुराक का दे सकते हैं। इसमें खुरदरा हिस्सा, पौष्टिक हिस्सा और स्वाद, ऐसे तीन अंग होते हैं। यदि कोई केवल स्वाद ही स्वाद चाहे और खुराक चबाने की मेहनत न करना चाहे, तो आधुनिक विज्ञान की सहायता से वह वैसा शायद कर सके, पर फिर वह जिन्दा न रह सकेगा। खुराक में खुरदरा भाग रहने से खुराक अच्छी तरह से पच सकती है, इसलिए उसका खुराक में मौजूद होना बहुत जरूरी है। इसी प्रकार काम का मकसद पूरा होने के लिए उसके हरएक हिस्से का उसमें रहना जरूरी है।

सदियों से आदमी इस कोशिश में रहा है कि काम को उसके घटकों में विभाजित कर दिया जाय और मेहनत का हिस्सा गरीब बेकसों पर लाद दिया जाय और संतोष या सुख का भाग ताकतवर को मिले। मेहनत का काम गुलामों के मत्थे मढ़ा गया और उनके मालिक मेहनत का फल चखते रहे। यूनान और रोम के साम्राज्य इसी गबन की नीति पर अधिष्ठित थे—सुख ही सुख लेना और मेहनत टालना। इसीलिए वे आज धूल में मिल गये। उनके इतिहास से हमें चेत जाना चाहिए। आधुनिक उद्योगप्रधान साम्राज्य इतिहास की यह सीख भूल गये हैं और वे अपने लिए सुख ही सुख और कच्चा माल पैदा करनेवाले देशों के लिए एकदम मेहनत ही मेहनत, ऐसा विभाजन कर रहे हैं। पर चूँकि यह कुदरत की व्यवस्था के विरुद्ध है, इसलिए यह योजना कभी सफल नहीं हो सकती। अपने ही समय में हमने देख लिया है कि इस प्रकार कुदरत की व्यवस्था का विरोध करने से किस प्रकार भयानक हिंसा निर्माण हो सकती है। समय-समय पर होनेवाले विश्वयुद्धों के जरिये साम्राज्यवादी राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों पर अपनी हुकूमत कायम करने की कोशिश कर रहे हैं। कुछ समय के लिए वे सफल होते हुए भले ही नजर आ जायँ, पर चूँकि उनमें उनके नाश का बीज मौजूद है, इसलिए वे समय पाकर अवश्य नष्ट होंगे।

हमने पिछले एक अध्याय में देखा है कि किस प्रकार मेहनत बचाने-

वाले यंत्रों के बनानेवाले अपने यंत्र लोगों के मत्थे मढ़ते हैं और उनकी बदौलत किस प्रकार घर के नौकर-चाकर, किसान और उनके मजदूर बेकार बनकर लाचारी की हालत में इन्हीं कारखानों में अपनी रोजी पाने की गरज से हाजिर हो जाते हैं। इस प्रकार की तब्दीली से इंग्लैण्ड के देहातों की जमीन बिना जोती पड़ी रहने लगी, क्योंकि उसके लिए मजदूर मिलना दुश्वार हो गया। कोई भी देश केवल कोयला, लोहा और टीन पर जिन्दा नहीं रह सकता। उसे खुराक अवश्य चाहिए। इसलिए खुराक प्राप्त करने के लिए दूसरे देशों को अपने काबू में रखना जरूरी हुआ। दूसरे देश खुशी-खुशी गुलामी थोड़े ही स्वीकार करनेवाले थे? इसलिए फिर जबर्दस्ती करना शुरू हुआ। इस प्रकार अंग्रेजों के जीवन की बुनियाद ही हिंसा हो गयी। अपना यह संगठन या अपनी यह व्यवस्था कायम रखने के लिए उन्हें हर दूसरी पीढ़ी का खून और बुद्धि रणचण्डी को भेंट करना पड़ता है। क्या यह व्यवस्था बुद्धिमानी की द्योतक है? सर्वसाधारण की यही राय होगी कि जिस व्यवस्था को टिकाये रखने में समय-समय पर देश के निर्दोष जवानों की बलि चढ़ानी पड़ती है, उसमें जरूर कोई-न-कोई खामी है। पर उनकी बुद्धि भरमाने के लिए सारे प्राप्य उपायों का—यथा जीवन का अतिरिक्त आवश्यकताओं का पैमाना कायम करना, मूल्यांकन की गलत पद्धति का समर्थन करना, हिंसा को पूजनीय मानना आदि-आदि—अवलम्ब किया जाता है, ताकि उनका समर्थन हमेशा मिलता रहे। इस किस्म के प्रचार से कैसे भयानक परिणाम निकलते हैं, यह माताओं का अपने बच्चों को और स्त्रियों का अपने पतियों को युद्ध पर जाने के लिए प्रोत्साहित करना इससे प्रकट होता है। क्या एक माता के लिए यह खुशी की बात हो सकती है कि उसके बच्चे ने हजारों व्यक्तियों को कत्ल करने और वैसा करते हुए स्वयं खेत हो जाने की ट्रेनिंग पायी है? क्या कोई स्त्री अपने पति पर इसलिए नाज कर सकती है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय डाकेजनी में शामिल था और उसमें खेत हुआ? पर आश्चर्य की बात तो यही है कि लोगों को छुटपन से ही ऐसी विकृत शिक्षा दी

जाती है कि ये अस्वाभाविक बातें भी उन्हें बिलकुल स्वाभाविक-सी प्रतीत होती हैं।

इस प्रकार बुद्धि विकृत करने के लिए हिंसा की बहुत बड़ाई की जाती है। इक्के-दुक्के खून के लिए तो कानूनन फाँसी की सजा दी जाती है; पर निरीह जवानों का कत्लेआम करनेवालों को राष्ट्रीय सम्मान देकर उनकी कद्र की जाती है। उन्हें उपाधियाँ दी जाती हैं, या उन्हें वेस्ट-मिन्स्टर ॲबे या सेंट पॉल के गिरजाघर सरीखे पवित्र स्थानों पर दफना-कर उन पर उनके स्मारक खड़े किये जाते हैं। ऐसे दुष्ट उपायों का अवलंब करके जो व्यवस्था जिंदा रहना चाहती है, क्या उसमें कुछ बुनि-यादी खामियाँ हैं, ऐसा नहीं प्रतीत होता ? इस औंधी व्यवस्था से मनुष्यों के सूक्ष्म नैतिक विचार कुंठित हो जाते हैं। जीवन में आवश्यकताओं की भरमार हो जाने से मनुष्य को स्वस्थचित्त होकर सोचने के लिए फुरसत ही नहीं मिलती। वे अपने-आपमें तल्लीन रहते हैं, इसलिए अधिकारा-रूढ व्यक्तियों का मार्ग निष्कंटक बन जाता है।

इस औंधी व्यवस्था का तरीका बिलकुल आसान है। हमने यह देखा है कि कुदरती तौर पर मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काम करता है। इसका मतलब यह हुआ कि उसकी आवश्यकताएँ ही उसे काम में लगाने की प्रेरक शक्तियाँ हैं। इसलिए उसकी आवश्य-कताएँ बढ़ाइये, तो वह और भी काम करने के लिए तत्पर होगा। कृत्रिम रूप से आवश्यकताएँ बढ़ाने के पक्ष में यही दलील दी जाती है। इसी को जीवन का पैमाना 'ऊँचा उठाना' भी कहा जाता है। यह मनुष्य की इच्छा-शक्ति पर अंकुश रखता है, उसके कार्यों और प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखता है और जिसके हाथ में उसकी लगाम है, उसकी इच्छा-नुसार उसे मुड़ना पड़ता है। जो इस कदर फंदे में फँस जाता है, वह अपनी तर्कशक्ति खो बैठता है और बिना चीं-चपड़ किये चुपचाप पीछे हो लेता है।

हमने यह भी देखा है कि आज दुनिया कारखानेदारों के पैरों तले

रौंदी जा रही है। लोगों को चीं-चपड़ करने से रोकना और एक ऐसा संगठन कायम करना, जिससे दोनों हालत में उसे फायदा ही मिलता रहे, यह उनके हित की बात है। जब लड़ाई बंद होती है, तब वे साइकिलें बनाकर बेचते हैं और जब युद्ध के बादल मँड़राने लगते हैं, तब वे तोपें और बम बनाने लग जाते हैं। अपनी हिदायतें लोगों के फायदे की हैं, ऐसा भ्रम निर्माण कर वे लोगों को यह व्यवस्था कायम रखने के लिए अपने प्रियजनों को बलिवेदी पर भेट चढ़ाने के लिए तैयार कर लेते हैं। यह सब किसलिए? केवल काम की मेहनत और उसके अनुषंगिक अनुशासन को अलग करने और उनसे प्राप्त केवल सुख हस्तगत करने के लिए।

जिस प्रकार संतुलित आहार खाने से शरीर को ताकत, स्वास्थ्य और आराम, ये तीनों मिलते हैं, उसी प्रकार उपयुक्त काम से भी ये तीनों चीजें प्राप्त होती हैं। प्रत्यक्ष काम करते समय शारीरिक मेहनत तो होती ही है, पर साथ-ही-साथ मानसिक विकास के मौके और संतोष भी मिलता रहता है। पर आजकल की प्रवृत्ति ऐसी है कि मेहनत को टालकर उसे दूसरे असहाय लोगों पर लाद देना और काम के सुखदायक परिणाम या फल का सबलों द्वारा चखना है। इस प्रकार छँटनी करने के बाद शरीर की स्वस्थता के लिए कुछ व्यायाम तो अवश्य ही चाहिए, अतः उसके लिए दवाई की गोली के रूप में गोफ, टेनिस, हॉकी, क्रिकेट, फुट-बॉल आदि खेल खेलने की प्रथा पड़ गयी। इनमें शारीरिक श्रम तो होता है, पर श्रम के साथ की उकताहट नहीं रहती। ये खेल स्वाभाविक तौर पर गरीबों के बूते के बाहर के हैं।

काम की इस प्रकार काट-छाँट करना याने बड़े-बड़े जहाजों पर स्नायुओं को नाव खेने या घोड़ा चलाने में होनेवाले व्यायामों की गुंजाइश कर देना है। ऐसे जहाजों की व्यायाम-शालाओं में ऐसे यंत्र लगे रहते हैं, जिन पर बैठने से घोड़े की सवारी, नाव का खेना आदि सरीखा व्यायाम हो सकता है। घुड़सवार एक यांत्रिक घोड़े पर बैठकर रास

सँभालता है और बटन दबाकर घोड़े को दुलकी चाल या सरपट चाल चलाता है। यद्यपि सवार सचमुच के घोड़े पर नहीं बैठा है, पर उसे ठीक वैसे ही झटके आदि मिलते रहते हैं। उसी प्रकार नाव खेने के शौकीनों के लिए एक बेंच पर पतवार लगे रहते हैं। बेंच पर बैठकर सामने के गुटके पर एड़ी टिकाकर आप नाव खेते जा सकते हैं। पानी का अवरोध दर्शाने के लिए पतवारों में स्प्रिंग लगे रहते हैं। इस प्रकार जमीन पर की घोड़े की सवारी और नाव खेने का मजा हम यहाँ भी लूट सकते हैं। फर्क सिर्फ इतना ही है कि प्रत्यक्ष की घुड़सवारी में जो हवा में से भागने का और दोनों ओर के प्राकृतिक दृश्यों में जो बार-बार तब्दीलियाँ होती हैं, उनका आनंद और प्रत्यक्ष में पानी पर उतराते रहने का जो सुख मिलेगा, वह यहाँ नहीं होगा। सफर के दरमियान में ये तरकीबें शायद उपयुक्त होंगी, पर वे स्वाभाविक घुड़सवारी और नाव खेने की बराबरी कभी नहीं कर सकतीं।

इस प्रकार काम को दो हिस्सों में बाँट दिया जाता है—मेहनत और खेल—और कुछ लोगों को मेहनत करने के लिए बाध्य किया जाता है और कुछ लोग खेल का हिस्सा अपने लिए रख छोड़ते हैं। असंतुलित रूप से काम का जब विभाजन किया जाता है, तब मेहनत उकतानेवाली साबित होती है और खेल या सुख मनुष्य को असंयमी बना देता है। दोनों ही मानवीय सुख को घटानेवाले हैं। गुलाम भूखों मरता है और उसका मालिक बदहजमी से। यह प्रयोग कई शताब्दियों में फिर-फिर से किया गया, पर मनुष्य को पूर्णावस्था की ओर ले जाने में वह असमर्थ साबित हुआ है। हमारे देखने में मेहनत को टालकर केवल सुख प्राप्त करने की ख्वाहिश के कारण दुनिया में जंग, अकाल, मौत, उत्पात आदि ने हुड़दंग मचा दिया है। क्या हम इससे कुछ सबक न सीखेंगे?

श्रम-विभाग

: १३ :

जिस श्रम-विभाग से विशेषता या कार्यक्षमता निर्माण होती है, उस किस्म के श्रम-विभाग की उपयुक्तता से कोई इनकार नहीं कर सकता। हमारे देश में इस प्रकार की विशेषता सदियों से चली आ रही है और उसने मानो जड़ ही पकड़ ली है, क्योंकि वह पुश्तैनी हो गयी है और जातिविशेष तक ही वह सीमित रही है। इस प्रकार का अतिरेक भी अड़चनें पैदा करता है और प्रगति का मार्ग कुंठित करता है।

श्रम का उपयुक्त विभाजन करने के बहाने पश्चिमी लोगों ने काम को बहुत छोटे-छोटे हिस्सों में विभाजित कर दिया है। यहाँ तक कि वहाँ का हरएक काम जी उबानेवाला साबित होता है और इसलिए वहाँ के लोग काम को एक शाप या मुसीबत ही समझते हैं।

काम के उत्पादन का खयाल छोड़ भी दें, तो भी काम करनेवाले के फायदे के खयाल से उसके हरएक छोटे-छोटे हिस्से में काफी परिमाण में विविधता और नवीनता होनी चाहिए, ताकि काम करनेवाले के ज्ञान-तंतु अपनी कार्यक्षमता न खो बैठें। इसलिए अमुक मर्यादा के परे काम के और अधिक छोटे हिस्से न किये जायँ। यदि वे वैसे किये जायँगे, तो काम की उपयुक्तता नष्ट हो जायगी।

काम का छोटा हिस्सा पूरे काम से अधिक-से-अधिक नजदीकी रिश्ता रखनेवाला होना चाहिए। उसे पूरे काम की केवल एक क्रिया ही न बनना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि बढ़ईगिरी का विभाजन करना हो, तो कुछ बढ़ई केवल गाड़ी के पहिये ही बनायें और कुछ केवल घानियाँ बनायें। इन दोनों विभागों में काफी बुद्धि की जरूरत पड़ती है और उनमें कारीगर की सारी सुप्त शक्तियों के विकास की पूरी गुंजाइश है। उनसे बननेवाली चीजें भी पूर्ण हैं और अकेली भी बेची जा सकती हैं।

इसके परे जाकर इन कामों के और भी छोटे हिस्से किये जायँ, याने पूरे चक्के या पहिये बनाने के बदले कुछ बढ़ई केवल आरे बनायें और कुछ केवल पुट्ठे या पूरी घानी के बदले कुछ केवल लकड़ी चीरने का ही काम करते रहें, तो इन कामों से उकताहट जरूर निर्माण होगी। चमार के काम में भी यदि कोई चमार केवल चप्पल बनाये और कोई केवल जूते बनाये, तो यह विभाजन ठीक है। पर इसके परे जाकर कोई केवल सोल बनाये और कोई उसके ऊपर का हिस्सा बनाता रहे, तो वह विभाजन उपयुक्त न होगा। आधुनिक कारखानों में काम के इतने छोटे-छोटे हिस्से किये जाते हैं कि किसी-किसी आदमी को अपना ध्यान केवल कील ठोंकने या कोई नट बोल्ट कसने पर ही लगाना पड़ता है। एक जूते की फैक्टरी का ही उदाहरण लीजिये। इसमें एक बिजली से चलनेवाला पट्टा आड़ा घूमता रहता है, जिस पर जूतों के सैकड़ों साँचे जुड़े रहते हैं! पट्टे के पास जगह-जगह पर आदमी खड़े रहते हैं, जो अपने लिए निर्धारित काम करते रहते हैं। जब साँचा पहले आदमी के पास पहुँचता है, तब पहला आदमी अपने पास की लेई और ब्रश से उसके सोल पर झटपट लेई चुपड़ देता है। यह क्रिया उसके सामने आनेवाले हरएक साँचे पर सबेरे आठ से लेकर शाम के पाँच बजे तक वह करता रहता है। बीच में उसे एकाध घंटा भोजन के लिए छुट्टी मिलती है, वही उसकी विश्रान्ति है।

साल के ३०० दिनों तक, रोजाना आठ घण्टे, यही काम करते रहने से कारीगर के ज्ञान-तन्तुओं पर इतना बेजा बोझ पड़ेगा कि सम्भव है, वह पागल हो जाय। इस हालत में यदि भारी मजदूरी भी मिले, तो वह किस काम की?

इसलिए यदि सारी दुनिया में कारखानों में अग्रसर देश—अमेरिका—में यदि ज्ञान-तन्तुओं के रोगी अन्य रोगियों से अधिक पाये जाते हैं, तो यह कोई आश्चर्य करने की बात नहीं है[१]। मनुष्य का शरीर कोई निर्जीव

---

१. अमेरिका के अस्पतालों में अन्य रोगों के मिलाकर कुल जितने रोगी होते होंगे, उससे अधिक केवल ज्ञान-तन्तुओं के रोगी रहते हैं। वहाँ की पाठशालाओं में

यन्त्र नहीं, उसकी बनावट ऐसी है कि उसे जो काम दिया जाय, वह उसकी सारी सुप्त शक्तियों को विकसित करनेवाला हो। यह तभी हो सकता है, जब काम की इकाई यथासम्भव विस्तृत रहे।

यदि बहुत छोटे हिस्से किये जायँ, तो फिर वे केवल किसी काम की प्रक्रियाएँ ही होती हैं। ऐसे हिस्सों में मनुष्य-शक्ति का भारी अपव्यय होता है, इसलिए थोड़े ही समय में मजदूर काम के लिए अयोग्य बन जाते हैं। कड़ी मेहनत करनेवाला मजदूर केवल ४५ वर्ष की उम्र में ही काम के अयोग्य हो जाता है। पर मजदूरी देने की प्रथा के कारण यह अपव्यय कारखानेदार के सर पर न चढ़कर समाज के ही सर पर चढ़ता है। इसीलिए इतनी मनुष्य-शक्ति का नाश होते हुए भी कारखाने-वाला तो अपना उल्लू सीधा करता ही रहता है। उसके कारखाने की बदौलत कितने लोगों की जिन्दगी बरबाद हुई, इससे उसे कोई सरोकार नहीं। यदि उसका एक मजदूर काम करने योग्य नहीं रह जाता है, तो वह उसे हटाकर दूसरा तगड़ा आदमी नियुक्त करता है। उसे अपने मजदूरों से कोई मुहब्बत नहीं। मजदूर ने बरसों कारखाने में काम कर अपनी जिन्दगी भले ही बरबाद कर ली हो, पर यदि वह मालिक का काम करने योग्य नहीं रह जाता, तो वह मालिक उसे उतनी ही बेदरकारी से हटा देगा, जितनी बेदरकारी से वह अपने मुँह में बचा सिगरेट का

पढ़नेवाले विद्यार्थियों में से हर १६ विद्यार्थी के पीछे कम-से-कम एक तो पागलखाने में थोड़े समय के लिए पहुँच ही जाता है। आज यदि आपकी आयु १५ वर्ष की है, तो २० में एक हिस्सा यह मुमकिन है कि आप अपनी उम्र के कम-से-कम ७ साल किसी पागलखाने में बितायेंगे। गत १०-२० साल में ज्ञान-तन्तुओं के रोगियों की संख्या करीब-करीब दुगुनी हो गयी है। यदि आगामी १०० साल तक यही रफ्तार कायम रही, तो वहाँ की आधी जन-संख्या पागलखानों में रहेगी और आधी बाहर रहकर करों द्वारा इन बेकारों का पोषण करेगी। (पृष्ठ ५५ : Biography of Mayo Brothers) Ref : Five Minutes Biographies by Dale Carnagie, Publishers—Vora & Co. Ltd., Kalbadevi, Bombay.

ठूँठ फेंक देता है। इस प्रकार पुराने मजदूर को काम पर से हटा देने से कारखाने के मालिक का नुकसान तो कुछ नहीं होता, उल्टे शायद कुछ फायदा ही होता है, क्योंकि उसकी जगह उसे कम मजदूरी में दूसरा तगड़ा मजदूर मिल जाता है। क्या यह मनुष्य-जीवन और उसकी सुप्त शक्तियों की निर्मम हत्या नहीं है? ऐसी बरबादी क्या हमें स्थायी व्यवस्था की ओर ले जायगी? ऐसे मजदूरों को यदि कुछ अतिरिक्त मजदूरी मिलती भी हो, तो क्या इसका यह मतलब नहीं होता कि वे उस अतिरिक्त मजदूरी में अपनी ४५ साल के ऊपर की आयु बेच खाते हैं?

जीवन की तथाकथित आवश्यकताओं की पूर्ति करने की धुन सवार होने के कारण और मनुष्य की उच्च प्रवृत्तियों की अवहेलना करने से, हम केवल मजदूरी पर ही विशेष जोर देने लगते हैं; पर उसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य की स्वतंत्र बुद्धि मारी जाती है और इसलिए समुचित मूल्य आँकने की उसकी प्रवृत्ति विकृत हो जाती है।

इस हालत में कारखाने के मजदूरों की हालत घानी के बैल जैसी रहती है। उसकी आँखों पर पट्टी बँधी रहती है और वह चलता ही रहता है, पर कहाँ और कैसे, यह वह नहीं समझता। अपनी नथुनी में बँधी रस्सी द्वारा परिचालित होकर—यह रस्सी भी किसी आदमी के हाथ में नहीं रहती, वरन् घानी से ही बँधी रहती है—वह घानी के इर्दगिर्द लगातार घूमता ही रहता है और दिन के अन्त में जहाँ का तहाँ ही बना रहता है। तेली कुछ रहम करके उसे थोड़ी-सी खली अवश्य खिलाता है, पर वह भी उसीकी मेहनत से बनी हुई होती है। कारखाने के मजदूरों की हालत इससे कोई बेहतर नहीं। जीवन का आनन्द और आजादी का स्वस्थ वातावरण उनके लिए नहीं है। उन्हें उन्नति और विकास के सब मौकों से वंचित रखा जाता है। काम का यह तरीका कुदरत के खिलाफ है। इसलिए इसकी बदौलत मजदूरों की उच्च प्रवृत्तियों का खातमा हुए बिना नहीं रह सकता। और यह ऐसा नुकसान है कि जो बड़ी-से-बड़ी मजदूरी देकर भी पूरा नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार कारखानेदार काम का जी उबानेवाला भाग टालकर केवल खेल और सुख का भाग उठाना चाहते हैं और दूसरी तरफ हमारे समाजवादी मित्र ऐसे ही काम में से कुछ फुरसत प्राप्त करा देने के ख्वाब देखा करते हैं। यदि काम का सम्यक् दर्शन हुआ हो, तो एक ठीक किस्म के काम में फुरसत के मौके आप ही आप मिलते रहते हैं। जिस प्रकार किसी गाने के साथ ताल रहता ही है, उसी प्रकार आवश्यक फुरसत काम का एक अविभाज्य अंग ही है। इन दोनों को एक-दूसरे से अलग करना संभव नहीं। सारी क्रियाओं से मुक्ति याने फुरसत, यह मतलब ठीक नहीं, क्योंकि बिना मौत आये वैसी स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती। 'फुरसत याने आलस्य में बिताने का समय' यह व्याख्या भी ठीक नहीं। सच्ची फुरसत में किसी शक्तिविशेष को आराम दिया जाता है और शेष शक्तियाँ अपना-अपना काम बाकायदा करती रहती हैं। मेज के पास बैठकर केवल मानसिक श्रम करनेवाले को उस काम के कारण पैदा हुई ज्ञान-तंतुओं की शिथिलता दूर करने के लिए बगीचे के काम जैसे शारीरिक मेहनत के काम की आवश्यकता है। अपना यह कुदरती फर्ज ठीक से अदा कर सकने के लिए काम में ये पूरक भाग मौजूद रहने चाहिए।

मैं एक बार एक अनुभवी इन्जीनियर से काम के इस पहलू पर चर्चा कर रहा था। उसने कहा कि "काम और फुरसत एक साथ रह सकते हैं, इसकी मैं कल्पना नहीं कर सकता।" तर्क से यह बात समझाना शायद आसान न हो, पर व्यवहार में उसे बताना आसान है। इसलिए मैंने उसे सुझाया कि वह किसी कारीगर के यहाँ चले और इस समस्या का हल ढूँढ़ने की कोशिश करे। उसने मेरा सुझाव मान लिया और मुझे एक ऐसे स्कूल-मास्टर के पास ले गया, जो टोपियाँ बनाकर अपनी गुजर-बसर कर रहा था और मुझसे कहा कि इसके टोपियाँ बनाने के काम में कहाँ फुरसत और कहाँ आराम है, यह मैं उसे दिखाऊँ।

हमने उस स्कूल-मास्टर से कहा, "टोपियाँ बनाने का अपना तरीका

हमें बताइये तो सही।" वह झट अपनी टोकरी बाहर उठा लाया और उसमें से हलके मखमल का टुकड़ा निकालकर उसे उसने अंडाकृति काट डाला। फिर अस्तर का लाल कपड़ा निकालकर उसमें से इसीके आकार का एक दूसरा टुकड़ा काटा। इस अस्तर में उसने कुछ पुराने अखबारों के टुकड़े लगाये और सीने की मशीन द्वारा उस पर कुछ फूलों की आकृतियाँ बनायीं और बाद में उन सबको मखमल के टुकड़े पर सी दिया। इसके बाद उसने पंच से कुछ छेद बनाये, ताकि उनमें से हवा आ-जा सके। इस प्रकार जब वह स्कूल-मास्टर अपने काम की विविध क्रियाओं में व्यस्त था, तब मैं उस इञ्जीनियर को समझाता जाता था कि इस कारीगर को टोपियों के लिए आवश्यक कच्चा माल—मखमल—प्राप्त करने के हेतु अन्तर्राष्ट्रीय तिजारत का विचार करना पड़ता होगा, क्योंकि मखमल इटली से और अस्तर का लाल कपड़ा जापान से आता है। जब वह मास्टर कैंची से कपड़ा काट रहा था, तब उसकी एक शक्ति काम कर रही थी, जब वह मशीन से फूल बना रहा था, तब उसकी कलात्मक शक्ति काम कर रही थी और जब वह पंच से छेद कर रहा था, तब उसकी कलात्मक शक्ति आराम कर रही थी और दूसरी ही कोई शक्ति कार्यमग्न थी।

हम लोग इस प्रकार बातें कर रहे थे, इतने में मास्टर का बच्चा पिछवाड़े के आँगन में रोने लगा। उसकी रोने की आवाज सुनते ही मास्टर उठ खड़ा हुआ और अपना सब काम ज्यों-का-त्यों छोड़कर बच्चे के पास गया और उसे उठाकर अपनी पत्नी को, घर में मेहमान रहते हुए बच्चे को रुलाने के कारण, अच्छी तरह से डाँटने लगा। जब वह उधर अपनी पत्नी को डाँट-फटकार सुना रहा था, तब मैंने उस इञ्जीनियर से कहा, "देखिये, अब उसे काम से फुरसत भी मिली है, कुछ आराम भी मिला है और साथ ही साथ पत्नी को डाँटने का दूसरा काम भी मिल गया।" इञ्जीनियर ठहाका मारकर उठ खड़ा हुआ और कहने लगा, "अब आपकी बात मेरी समझ में आ गयी।"

जीवन को यदि स्वाभाविक रास्ते से चलने दिया जाय, तो वह अपने लिए सारी आवश्यक चीजें अपने-आप प्राप्त कर लेता है। उन्हें प्राप्त कराने के लिए हमें कोई खास कोशिश नहीं करनी पड़ती।

यह है सच्चा काम और उसका जीवन में उपयोग। उसीकी बदौलत आदमी को खुद के जीवन-काल में ही अपनी सारी शक्तियों का विकास कर लेने की गुंजाइश मिलती है और वह अन्त में अपनी उन्नति की अमिट छाप अपनी कृति पर डाल सकता है।

एक चित्रकार किस प्रकार सौन्दर्य की अपनी उन्नत कल्पना को चित्र द्वारा मूर्तरूप में उतारकर रख देता है और उसके बाद आनेवाली पीढ़ियाँ उसे किस प्रकार सराहती हैं, यह हमने पहले देख लिया है। वह जब प्रत्यक्ष में चित्र बनाता होगा, तब उसका काम देखनेवाले को ऐसा लगा होगा, मानो वह काम बहुत ही उकतानेवाला है और कई दिनों तक लगातार करना पड़ेगा। पर यदि आदर्श चित्र बनाना है, तो यह मेहनत अनिवार्य है। हाँ, लिथो प्रेसवाले को इतना जी-तोड़ काम करने की जरूरत नहीं, पर उसके चित्रों को कोई मिट्टी के भाव भी नहीं पूछता। असली और नकली में इतना फर्क तो रहनेवाला ही है।

उपर्युक्त चित्र की प्रत्यक्ष शुरुआत करने के पहले कई घण्टों तक उस चित्रकार को विभिन्न छटाओं के उपयुक्त रङ्ग बनाने में खर्च करने पड़े होंगे। अजन्ता की गुफाओं में जो रङ्ग इस्तेमाल किये गये हैं, उनको बनाने में कई साल मेहनत करनी पड़ी होगी। उसीका यह परिणाम है कि इतनी सदियों के बाद वे कल के जैसे ताजे मालूम होते हैं। उस समय के कलाकार मेहनत से मुँह नहीं मोड़ते थे और इसीलिए हम आज भी उनकी कला के सामने नतमस्तक होते हैं। बिना लगातार मेहनत किये यह सिद्धि पाने की कल्पना उन कलाकारों को कभी नहीं हुई। कुदरत ठीक-ठीक काम करा लेने से कभी बाज नहीं आती। वह बिना झिझक और बिना उसमें ओतप्रोत हुए किये गये काम को कभी स्थायित्व नहीं हासिल होने देती। यदि हमें स्थायित्व प्राप्त करना है, तो हमें पूरे

दिल से काम करना चाहिए। काम का ढोंग करने से बेड़ा पार न होगा। कुदरत धोखेबाजी या बेजा दस्तन्दाजी बर्दाश्त नहीं कर सकती।

एलोरा की गुफाओं में कैलास भी एक ऐसी ही अथक परिश्रम और पूरी लगन के साथ बनी उत्कृष्ट कला का, अपना सानी न रखनेवाला, नमूना है। स्वयम्भू चट्टान में से एक समूचा मन्दिर कुरेदा गया है। आगामी कई पीढ़ियों को यह सबक देता रहेगा कि उचित लगन और अथक परिश्रम से किया गया काम कैसा चिरस्थायी होता है। इस मन्दिर की बनावट में परिमाण और सुषमाकृति के सम्पूर्ण ज्ञान की जो झलक है, उससे स्पष्ट होता है कि उसके कारीगरों ने कभी टालमटोल नहीं की, मेहनत से कभी मुँह नहीं मोड़ा। कारीगरों ने मिले हुए मौके का पूरा-पूरा उपयोग किया, ऐसा दिखाई पड़ता है। इस प्रकार मार्गदर्शन मिलने से काम तो अच्छा होता ही है, पर उससे निर्माण होनेवाली चीज भी अच्छी होती है।

अब ईमानदारी से किये हुए केवल और एक काम का मैं जिक्र करूँगा। दिल्ली के पास 'कुतुबमीनार' नाम का एक पुराना लोहे का स्तम्भ है, जिस पर कुछ पुरानी बातें खुदी हैं। यह स्तम्भ आज कई सदियों से खुले मैदान में, धूप और पानी, सर्दी और गर्मी सहते हुए खड़ा है; पर उस पर जंग लगने का नामोनिशान भी नहीं है। यह स्तम्भ किन-किन धातुओं के मिश्रण से बनाया गया होगा, यह आजकल के अव्वल दर्जे के धातुशास्त्रियों को भी चक्कर में डाले हुए है। जिन पुराने लुहारों ने इस स्तम्भ को ढाला होगा, उन्होंने इस किस्म के मिश्रण को तय करने में कोई जल्दबाजी नहीं की होगी। इस किस्म की धातु तैयार करने में जो रोजमर्रा की मेहनत और अनुशासन उन्हें करना पड़ा होगा, उससे उन्होंने कभी मुँह नहीं मोड़ा होगा। आज यह स्तम्भ हमें गरजकर यही सुना रहा है कि यदि आप ईमानदारी से और कुदरत के योजनानुसार काम करेंगे, तो वह काम आपको अमरत्व प्रदान करेगा।

कई लोग खदान में से सोना निकालने के व्यवसाय में खूब पैसा और

आराम मिलने की कल्पना करते होंगे। पर वर्ग-विशेष को जी-तोड़ मेहनत का काम करने के लिए बाध्य करना और केवल सुख और आराम का भाग खुद के लिए रख छोड़ना, इस प्रवृत्ति के कारण हिन्दुस्तान का सोने की खदानोंवाला प्रसिद्ध जिला अत्यन्त निकृष्टावस्था को पहुँच गया है। उसकी हालत यहाँ तक हीन हो गयी है कि वहाँ का किसान अपनी गायों का दोहरा उपयोग कर लेता है; याने जब तक वे दो बूँद दूध देती हैं, तब तक उनका दूध निकालता है और जब वे दूध देना बन्द करती हैं, तब उन्हें हल में जोतता है।

मैं जब एक बार उस जिले में गया था, तब मुझे वहाँ की एक सबसे गहरी, याने ७००० फुटवाली, खदान में नीचे जाने का मौका मिला। वहाँ मैंने देखा कि घोर अँधेरे में, डेवीस लैम्प के धुँधले उजाले में, लोग सुरंगों में काम करते थे। वे अपनी जान जोखिम में डालकर, सबेरे से शाम तक, धूल और गंदे वातावरण में, थोड़ी-सी मजदूरी पर पत्थरों में सुरंग लगा रहे थे। यह मजदूरी उन्हें अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताएँ भी पूरी करने के लिए काफी नहीं थी। वहाँ उन्हें इतनी मेहनत पड़ती थी कि जब वे खदान के बाहर ताजी हवा में आते थे, तब बिल्कुल लस्त पड़ जाते थे। इस जिले से राज्य को मदक-बिक्री की सबसे अधिक आमदनी होती है। जब मजदूरों के ज्ञान-तन्तुओं पर बेजा बोझ पड़ता है, तब वे उन्हें आराम देने के लिए शराब पीने लग जायँ, तो कोई आश्चर्य नहीं। इन लोगों में प्रमेह, गरमी आदि गुप्त रोग भी काफी फैले हुए हैं। जब ज्ञान-तन्तुओं पर बेजा बोझ पड़ता है, तब उनकी थकावट दूर करने के लिए मनुष्य शराब और वेश्या-गमन के लिए प्रवृत्त होता है। यह मनुष्य-शरीर की एक बीमारी है। खदान देख लेने के बाद उसके मैनेजर ने मुझसे पूछा, "यहाँ के मजदूरों के कल्याण की दृष्टि से आप कोई योजना सुझा सकते हैं?" मैंने दो पर्याय सुझाये : १. काम और मजदूरी की समुचित कदर करना याने इन खदानों को बन्द कर देना या २. वे अपनी थकावट और दुर्दशा को शराब में डुबो दे सकें, इसलिए शराब की अधिक

दूकानें खोलना। कहने की जरूरत नहीं कि इन सुझावों से मैनेजर को काफी धक्का पहुँचा। पर वह तो शेअर होल्डरों को बहुत मुनाफा बाँटनेवाली कम्पनी का मैनेजर था और इन दोनों उपायों से कम्पनी की आमदनी घटनेवाली थी। कम्पनी को पैसा और सोना मानवीय जीवन से कहीं अधिक मूल्यवान् था। इसलिए मैनेजर ने हमारे सुझावों पर कोई अमल नहीं किया।

यदि हमें कुदरती काम से पूरा फायदा उठाना है, तो हमें उसके मूल रूप के पास अधिक-से-अधिक बने रहने की कोशिश करनी चाहिए। यदि उसका विभाजन भी करना पड़े, तो भी उसके विभाग मूल काम से यथासंभव नजदीक ही बने रहें।

मजदूरी—हमने यह देखा कि कुदरत काम का मुआवजा मजदूरों के फायदे के रूप में उन्हें दे देती है। ये फायदे ही मानो कुदरत की दी हुई मजदूरी हैं।

जैसे-जैसे जीवन पेचीदा बनता गया, वैसे-वैसे श्रम-विभाग के तत्त्व पर अमल किया जाने लगा। काम करने से जो फायदे होते हैं, उनका पैसा रूपी मजदूरी एक हिस्सा है। पर यदि हमने काम के असली स्वरूप का खयाल रखा, तो इन बाह्य प्रलोभनों से हम पथभ्रष्ट नहीं हो सकते।

बदनसीबी से मजदूरी देने की पद्धति अमल में आने से 'काम' के फायदे के बदले काम की पैदावार पर अधिक जोर दिया जाने लगा। यहाँ तक कि अब केवल उत्पादन की ही तूती बोलने लगी है। कारखानेदार यही देखता है कि कौनसी चीज खुले बाजार में बेचकर वह अधिक-से-अधिक मुनाफा कमा सकेगा। वैसी चीजें कम-से-कम लागत में पैदा करने के लिए वह अग्रसर होता है। उन्हें बनाने के लिए वह कुछ मजदूरी देता है। उस मजदूरी की प्राप्ति के लिहाज से मजदूर स्पर्धा से उन चीजों के निर्माण में लग जाते हैं। फिर उन चीजों के उत्पादन का नैतिक परिणाम कुछ भी क्यों न हो, काम करने की शर्तें चाहे कुछ भी हों, उत्पादन के साधन चाहे जो भी हों और उनका परिणाम भी चाहे जो हो, उनके

सामने केवल पैसा कमाने की दृष्टि रहती है। इस प्रकार जो अधिक मजदूरी देगा, उसको अपनी मेहनत बेच देना ऐसा तिजारती रूप काम को मिल गया और इसलिए काम करनेवाले मजदूर याने एक फरोख्त करने की चीज बन गये। मालिक हमेशा यही चाहते हैं कि कम-से-कम मजदूरी पर मजदूर मिलें।

पश्चिम अफ्रीका में पकड़े हुए गुलामों को अपने जहाजों में भरकर अमेरिका के बगीचों में ले जाने के लिए यदि गुलामों के व्यापारी को मल्लाह चाहिए या चीन पर जबर्दस्ती लादी जानेवाली खसखस के खेतों में पैदा होनेवाली अफीम की खेती करने के लिए मजदूर चाहिए और आप मजदूरी देने के लिए तैयार हों, तो आपको आदमी मिल ही जायेंगे। वे यह नहीं सोचेंगे कि हमारे इस काम का सामाजिक या नैतिक परिणाम क्या होगा। इस प्रकार नैतिक मूल्यों को गिराया जाता है।

चित्र नं० २०. माँ अपने बच्चे को स्तनपान करा रही है।

जब माँ अपने बच्चे को स्तनपान कराती है या उसके लिए भोजन तैयार करती है, तब वह कुदरत की सेवा-प्रधान व्यवस्था के अनुसार काम

करती है। उसका इसीमें समाधान रहता है कि मेरा बच्चा तन्दुरुस्त और आनंदी है। यही उसे मिलनेवाली 'मजदूरी' है।

चित्र नं० २१.

एक दाई पैसे लेकर दूसरे के बच्चे को स्तनपान करा रही है।

जब कोई दाई पैसा लेकर किसी दूसरे के बच्चे को स्तनपान कराती है या कोई रसोईवाली पैसे के लिए रसोई बनाती है, तब वह सेवा-प्रधान व्यवस्था से उतरकर साहस-प्रधान व्यवस्था में आ जाती है। उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में माँ के कामों और क्रियाओं को तिजारती रूप मिल गया। दाई और रसोई बनानेवाली को मिलनेवाले पैसे में ही सुख है। बच्चे की भलाई का उनके दिलों में गौण स्थान रहता है।

हम और भी नीचे याने पराश्रयी व्यवस्था तक उतर आते हैं, जब माँ को दूध नहीं है इसलिए नहीं, बल्कि माँ के बदन का गठीलापन कायम रहे, इसलिए बच्चे को स्तनपान न कराकर उसे कृत्रिम दूध की बोतल थमा देते हैं। इस दूध के कारखानेवाले को बच्चे की तन्दुरुस्ती से कोई सरोकार नहीं है; उसे तो अपना माल खपाने और स्त्रियों के बदन का गठीलापन कायम रखने की ही धुन रहती है।

जब बच्चों की खुराकों की झूठी इश्तहारबाजी चलने लगती है, याने इश्तहारों में वर्णित कोई गुण उस खुराक में मौजूद नहीं रहते, तब हम और भी नीचे याने परोपजीवी व्यवस्था में उतर आते हैं। इस व्यवस्था

में बच्चे को पहुँचानेवाले नुकसान का कहीं विचार ही नहीं होगा। केवल मुनाफा कमाना, यही प्रधान मकसद रहता है। इस प्रकार माँ का कुदरती काम विभिन्न साधनों के जरिये केवल पैसारूपी इनाम पाने के लिए किया जाता है। ऐसा करने से माँ के कार्य की महत्ता नष्ट हो जाती

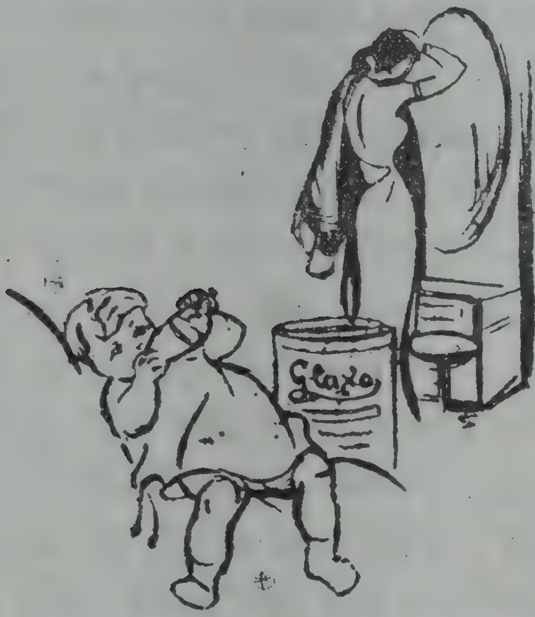

चित्र नं० २२. माँ के बदन का गठीलापन कायम रखने के लिए बच्चे को कृत्रिम दूध की बोतल दी गयी है।

है और साथ-ही-साथ उससे होनेवाले फायदे भी हम खो बैठते हैं। जो कुछ बचता है, वह केवल पैसे के लिए की जानेवाली तिजारत ही है।

एक जमाना था, जब कश्मीर में गाड़ियों में बिछाने की बालदार दरियाँ बना करती थीं। ये काफी नरम और गरम रहती थीं और इनके बनाने में निपुणता की आवश्यकता पड़ती थी। इनके बनने में समय भी काफी लगता था, इसलिए वे थोड़ी महँगी पड़ती थीं। जब कारखाने की बनी दरियाँ मिलने लगीं, तब इन दरियों का मिलना मुश्किल हो गया।

एक बार चरखा-संघ के एक कार्यकर्ता को कुछ गरीब मजदूर सड़कों के लिए गिट्टी फोड़ते हुए मिले। पूछताछ करने पर उसे पता चला कि

ये उपर्युक्त किस्म की दरियाँ बुननेवाले कुशल बुनकर थे। जब उनके माल की खपत घट गयी, तब उनका धंधा बैठ गया और लोग उनकी कलापूर्ण कारीगरी से वंचित हो गये।

इस प्रकार काम का महत्त्व कम करने और उसके उत्पादन को अत्यधिक महत्त्व देने से कुशल कारीगर केवल गिट्टी फोड़नेवाले बन जाते हैं। क्या यह मनुष्य की शक्तियों का स्वाभाविक और मितव्ययी उपयोग कहलायेगा? काम की पैसेरूपी मजदूरी पर विशेष जोर देने और काम का असली मकसद भुला देने से काम का अधःपात होता है।

कारखानों में बनी चीजें आयात करने से कारीगरों को उन्नत करनेवाले काम नष्ट हो गये। इसके पहले हम देख चुके हैं कि इंग्लैंड के आजाद किसान किस प्रकार वहाँ की फैक्टरियों के परावलंबी मजदूर बनाये गये। ऐसे कारखानों में बनी चीजें हमारे देश में आयात होने से हमारे यहाँ के लोगों को अपनी जीविका कमाने के लिए जानवरों से स्पर्धा करनी पड़ती है। करीब तमाम शहरों में ठेले और रिक्शा बैलों के बदले आदमियों द्वारा खींचे जाते हुए दिखाई देते हैं। औद्योगीकरण हुए देशों में जो मेहनत बचानेवाले यंत्र ईजाद हुए हैं, उनकी बदौलत मानो वहाँ के लोगों को जानवरों जैसी मेहनत करनी पड़ती है। उन यंत्रों की बदौलत इंग्लैंड के लोगों के श्रम की भले ही बचत होती हो, पर हिंदुस्तान के लोगों को लाचारी की हालत में अपना शरीर टिकाये रखने के लिए कोई भी काम करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। किसी क्षेत्र-विशेष में समृद्धि निर्माण करने पर दूसरे क्षेत्र में अभाव निर्माण न होना चाहिए, तभी समृद्धि-निर्माण में कुछ सार है। यदि ऐसा नहीं होता है, तो समृद्धि निर्माण करनेवाली योजना बेकार है। कुशल कारीगर को गिट्टी फोड़ने में लगाना या रिक्शा खींचने के लिए बाध्य करना और इस प्रकार उसे मवेशी के चारे से स्पर्धा करने देना क्या प्रगति कहा जा सकता है?

काम वास्तव में मनुष्य का चारित्र्य निर्माण करनेवाला और मानव के

उत्तमोत्तम गुणों का विकास करानेवाला है। हमें काम का यह पुराना गौरव उसे हासिल कराना चाहिए। यह तभी हो सकता है, जब हम काम को शृंखलाओं से मुक्त कर देंगे और उसे अपना स्वाभाविक कार्य करने की पूरी छूट दे देंगे।

जीवन के उज्ज्वल प्रकाश से चमकने के लिए आदमी को कार्य की अग्नि की जरूरत रहती है। उचित काम केवल उसके करनेवाले को ही नहीं, बल्कि उसके पड़ोसियों को भी उष्णता पहुँचायेगा। जब माँ अपने बच्चों की खातिर जी-तोड़ मेहनत करती है, तब उसे खुद को सुख और समाधान तो मिलता ही है, पर साथ ही साथ सारा कुटुंब उसके प्रेम और लगन से प्रभावित होता है। उसकी बदौलत बच्चों का शारीरिक तथा मानसिक विकास भी होता रहता है और समय पाकर वे राष्ट्र के सुयोग्य नागरिक बन जाते हैं। दाई या मजदूरी देकर रखी हुई घर सँभालनेवाली दूसरी कोई स्त्री माता की जगह नहीं ले सकती।

इसी प्रकार केवल मजदूरी का प्रलोभन देकर सच्चा काम नहीं कराया जा सकता। जिस प्रकार मातृ-प्रेम खरीदा या बेचा नहीं जा सकता, उसी प्रकार किसी काम के करनेवाले में केवल मजदूरी का प्रलोभन देकर लगन नहीं निर्माण की जा सकती, जो कि धंधे के तौर पर काम करनेवालों में स्वाभाविक तौर पर होती है।

जो डॉक्टर रोगी और उसका रोग इन दोनों में दिलचस्पी रखकर अपने पास आनेवाले हरएक मरीज की गौर से परीक्षा करेगा, वह अधिक ज्ञान और अनुभव प्राप्त करेगा, बनिस्बत उस डॉक्टर के, जो केवल फीस के कारण रोगी की परीक्षा करता है। पहले किस्म का डॉक्टर अपने काम से प्रेम रखता है, इसलिए काम करता है और दूसरा धन कमाने की इच्छा से। पहला सच्चा पेशेवर डॉक्टर कहलायेगा और दूसरा केवल दवाइयाँ बेचनेवाला कहलायेगा, और यदि वह केवल पेटेंट दवाएँ ही देता होगा, तो वह उन दवाओं के कारखानों का एजेंट ही कहलायेगा। जहाँ की सारी व्यवस्था केवल पैसे पर चलती होगी, ऐसे समाज में यदि कोई

रोगी मरता होगा और उसके पास डॉक्टर की फीस देने के लिए पैसा न होगा, तो उसको डॉक्टरी सहायता कभी नहीं मिल सकेगी। पर यदि किसी पैसेवाले को मामूली सर्दी-जुकाम भी हो जायगा, तो बड़े-बड़े सिविलसर्जन भी उसके यहाँ दौड़े जायँगे, क्योंकि उन्हें इतमीनान रहेगा कि उनकी फीस अवश्य मिलेगी।

इसी प्रकार यदि कोई वकील किसी मुकदमे के नैतिक पहलू के कारण उसमें दिलचस्पी लेता होगा, तो वह सच्चा पेशेवर वकील कहलायेगा, पर जो केवल फीस मिलती है, इसलिए चाहे जो केस लेने को तैयार होगा, वह मानो अपना कानूनी ज्ञान बेच खाता है। आज कई लोग जेलखानों में केवल इसीलिए सड़ रहे हैं कि उनके पास वकीलों की अनाप-शनाप फीस चुकाने के लिए काफी धन नहीं है।

बदनसीबी से सब पेशों की यही हालत है। केवल पैसों के लिए वे चलाये जाने लगे हैं। वे सब पैसे की पकड़ में इस कदर आ गये हैं कि मानवीय दृष्टि रखनेवाला एक भी पेशेवर आदमी मिलना मुश्किल हो गया है।

इन सब उदाहरणों में हमने देखा कि कार्य पर नहीं, पर उसकी मजदूरी पर विशेष जोर दिया गया है और चूँकि मजदूरी में कोई सृजन की गुंजाइश नहीं है, इसलिए कोई प्रगति नहीं दिखाई देती है। लोगों की शिकायत है कि हमारे वैद्यक-शास्त्र में कोई प्रसिद्ध अन्वेषक नहीं हुआ। इसका कारण स्पष्ट है। यह व्यवसाय पराश्रयी या लुटेरों की व्यवस्था के दर्जे से किया जा रहा है। साहसी व्यवस्था के दर्जे तक शायद ही कोई पहुँच पाता है। समूहवादी और सेवाभावी व्यक्तियों का तो कोई पता ही नहीं चलता, क्योंकि व्यापक क्षेत्र और संगठित व्यवस्था के अभाव के कारण वे अपनी छाप नहीं डाल सकते।

जीवन के हरएक कार्यक्षेत्र में इस प्रकार के सच्चे और प्रामाणिक कार्यकर्ताओं की कमी पग-पग पर महसूस होती है। शायद पैसाप्रधान व्यवस्था में ऐसा होना अपरिहार्य है, क्योंकि वहाँ काम के बदले उससे मिलनेवाली मजदूरी और उससे तैयार होनेवाली चीज पर अधिक जोर दिया गया है।

काम के स्वरूप को यदि अच्छी तरह से समझ लिया जाय और उसके अनुसार यदि काम किया जाय, तो उसका मनुष्य की उच्च शक्तियों से वही सम्बन्ध दिखाई देगा, जो खुराक का शरीर से है। वह मनुष्य की उच्च शक्तियों को पुष्टि और स्फूर्ति पहुँचाता है और अधिक-से-अधिक अच्छी वस्तु निर्माण करने के लिए प्रोत्साहित करता है। वह उसकी इच्छाशक्ति को काबू में रखकर उचित दिशा की ओर ले जाता है और पशु-वृत्ति को छोड़ देने के लिए बाध्य करता है। वह मनुष्य को अपने मूल्यांकन के दर्जे को व्यक्त करने और उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए अच्छी पार्श्वभूमि का काम देता है।

सारांश—हमने यह देख लिया कि काम के हिस्से करने की कोशिश में काम का असली मकसद तो भुला दिया गया, और जहाँ तक कारखानेवालों का ताल्लुक है, उत्पादन ही सब कुछ बन गया और जहाँ तक मजदूरों का ताल्लुक है, मजदूरी ही सर्वेसर्वा बन गयी। इसका परिणाम बहुत भयंकर निकला—काम की उसके करनेवाले पर होनेवाली प्रतिक्रिया भुला दी गयी।

हमने यह भी देखा कि कुदरत में जो सहकार्य मिलता है, वह भी प्रत्यक्ष मिलनेवाले फायदे के लिए होता है। मधुमक्खी जो फूलों का रस और पराग इकट्ठा करती है, वह मुख्य रूप से फूलों पर पराग का छिड़काव करने के लिए नहीं करती। उसका प्रधान मकसद तो अपने लिए पराग और मधु इकट्ठा करना होता है और यही कुदरत की दृष्टि में उसके किये हुए काम का पूरा मुआवजा है।

काम के हिस्से करने के फलस्वरूप मिलनेवाले मुनाफे के भी वेतन, मजदूरी, किराया, ब्याज आदि के रूप में हिस्से पड़ जाते हैं, जिससे प्रत्यक्ष काम करनेवाले के पल्ले बहुत कम मुनाफा पड़ता है। जिनका प्रत्यक्ष काम करने से कोई ताल्लुक नहीं, ऐसे ऐरे-गैरे ही बीच में हाथ साफ कर देते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कि कोई मोमकीड़ा मधुमक्खियों के छत्ते पर हमला कर उनका संचित मधु हड़प जाता है।

अपने विश्लेषण से हम इस नतीजे पर पहुँचे कि प्राणियों को सहकार्य

देने के लिए उनका केवल स्वार्थ ही प्रेरक होता है। इस स्वार्थ में यदि कोई भाँजी मारे, तो यह कार्य स्थायी समाज-व्यवस्था के विरुद्ध होगा और इससे आज नहीं तो कल संघर्ष अवश्य निर्माण होगा। कुदरत जिसको सीधा फायदा पहुँचाती है, उसके लिए कोई जरिया नहीं ढूँढ़ती। समाजवादी लोग समान वितरण करना चाहते हैं, पर उसके लिए वे प्रथम सबका मुनाफा इकट्ठा करना चाहते हैं। यह कुदरत के खिलाफ है, इसलिए इस तरीके से भी कभी-न-कभी हिंसा अवश्य निर्माण होगी।

योजना—यद्यपि यहाँ किसी विस्तृत योजना पर विचार करना अनुपयुक्त है, तथापि यह जतला देना अनुचित न होगा कि कोई भी योजना, जो केवल उत्पादन और मजदूरी पर जोर देगी, कुदरत के खिलाफ होगी। हमारे कार्य की सिद्धि के लिए और स्थायी समाज-व्यवस्था निर्माण करने के हेतु कोई भी योजना काम के मकसद पर अधिष्ठित करनी पड़ेगी और जिनके लिए वह काम होगा, उसे उनकी कूवत और स्वभाव पर आधारित करना पड़ेगा।

किसी किसान ने अपनी फसल काटकर बखारों में भरकर रख दी थी। चूहों ने उनमें प्रवेश किया। उसने इस समस्या पर विचार किया और कुदरती तौर पर उसे हल करना चाहा। चूहों को भगाने के लिए उसने एक बिल्ली पाली। चूहों का शिकार करना बिल्ली का जन्म-सिद्ध स्वभाव है, इसलिए किसान की यह योजना कुदरत के अनुसार ही हुई। बाद में बिल्ली को पिलाने के लिए दूध चाहिए, इसलिए उसने एक गाय पाली और अन्त में गाय और घर की देखभाल करने के लिए वह बहू लाया। इस प्रकार आवश्यकता के अनुसार किया गया नियोजन सफल हो सकता है।

बदकिस्मती से आज जो विभिन्न योजनाएँ देश के सामने रखी जा रही हैं, उनमें उत्पादन की ओर खासकर और मजदूरी की ओर कुछ हद तक खयाल दिखाई देता है। जर्मनी और रूस के समान ये सब योजनाएँ शीघ्र फलदायी जरूर होंगी, पर वे शाश्वत नहीं रहेंगी और कुछ समय बाद उनमें से हिंसा निर्माण होगी, क्योंकि वे स्थायी मार्ग का अनुसरण नहीं करतीं।

(दूसरा भाग)

प्रस्तावना

इस पुस्तक के प्रथम भाग में हमने देखा कि एक व्यक्ति के नाते मनुष्य किस प्रकार पेश आता है। उसमें हमने देखा कि कुदरत कैसे काम करती है और यह भी जाना कि विज्ञान कुदरत के काम का अध्ययन ही है और उसका मकसद मनुष्य को कुदरती तौर पर काम करने योग्य बना देना है। इस रास्ते से हम जरा भी विचलित हुए, तो हिंसा और गड़बड़ी पैदा हो जाती है। बहुतेरे प्राणी स्वाभाविक तौर से ही कुदरत के रास्ते चलते हैं; पर मनुष्य में इच्छाशक्ति और बुद्धि, ये दो चीजें अधिक हैं, इसलिए वह समझ-बूझकर और इरादे से कुदरत के रास्ते पर चलता है। अन्य प्राणियों और मनुष्य में यही मुख्य फर्क है। अपने ज्ञानपूर्वक बीतनेवाले जीवन में मनुष्य अपनी करतूतों को नापने के लिए कैसे विभिन्न पैमाने बनाता है और उसकी सुप्त शक्तियों के विकास और उत्कर्ष में काम कैसे सहायक होता है, यह भी हमने देखा।

मनुष्य जब इस प्रकार काम करने लगता है, तब वह स्थायी समाज-व्यवस्था निर्माण करने में सहायक होता है, जिससे पिछले महायुद्धों सरीखी उथल-पुथल नहीं निर्माण होती।

इस दूसरे भाग में हम देखेंगे कि मनुष्य का सामाजिक जीवन कैसा होता है। जानवरों में ऐसी शक्तियाँ देखी जाती हैं, जो खास काम के लिए समान वर्ग के जानवरों को एकत्रित लाती हैं। भेड़िये जैसे शिकारी जानवर झुंड बनाकर शिकार करते हैं। उनका हेतु स्वार्थपूर्ण रहता है और उनका जीवन परोपजीवी होता है।

उधर दूसरे भी जानवर हैं, जो आक्रमण करने के लिए नहीं, बल्कि आत्मसंरक्षण करने के लिए झुंड बनाते हैं; उदाहरणार्थ, गाय, बैल और हाथी। झुंड के हरएक प्राणी का आत्म-संरक्षण का स्वार्थ तो रहता ही

है, पर सामूहिक दृष्टि से हरएक को समूह के संरक्षण की जिम्मेदारी उठानी ही पड़ती है।

पहले भाग में हम देख चुके हैं कि पश्चिम का सामाजिक और आर्थिक ढाँचा परोपजीवी होने से भेड़ियों के गुट जैसा है। उसे आत्मरक्षणार्थ दूसरे गुटों पर आक्रमण करना पड़ता है। परोपजीवी व्यवस्था से ऊपर चढ़ते-चढ़ते हम पराश्रयी और पुरुषार्थयुक्त व्यवस्थाओं में से गुजरकर समूह-प्रधान व्यवस्था में पहुँचते हैं।

समूह-प्रधान व्यवस्था में दो भेद होते हैं। एक में केवल निजी हकों का ही प्राधान्य रहता है, जैसे भेड़ियों के गुट और दूसरे में निजी कर्तव्यों का भी खयाल किया जाता है।

जैसे-जैसे मनुष्य की उत्क्रान्ति होती जाती है, वैसे-वैसे उसके कर्तव्यों का भान बढ़ता जाता है और समाज का घटक बनने के नाते उसे क्या फायदे होते हैं, यह देखने के बजाय सामाजिक स्वास्थ्य को टिकाये रखने के लिए उसे क्या-क्या करना चाहिए, इसका भान बढ़ता जाता है। अन्त में वह सेवा-प्रधान व्यवस्था तक पहुँच जाता है, जिससे समाज-सेवा में वह आत्मदर्शन करने लगता है।

इस भाग में भेड़ियों के गुट के समान बने हुए समूह की दृष्टि से नहीं, बल्कि मनुष्यमात्र के कल्याण की दृष्टि से, मनुष्य किस प्रकार सामाजिक जीवन व्यतीत कर सकता है, यह हम देखेंगे।

आज यदि दुनिया में किसी चीज की जरूरत है, तो इस ज्ञान की कि आदमी मिल-जुलकर काम कैसे करें और दूसरों का नाश किये बगैर मनुष्यमात्र की भलाई कैसे साधें। ऐसी व्यवस्था में प्राप्त भलाई शायद नजरों में भरनेवाली भले ही न हो, पर वह टिकाऊ अवश्य होगी।

भेड़ियों के गुटवाली पश्चिमी व्यवस्था से क्या परिणाम निकल सकते हैं, यह हम देख ही रहे हैं। उनका अनुकरण करने से वैसे ही परिणाम यहाँ भी निकलेंगे। आज योरोप की क्या हालत है, यह उस व्यवस्था के परिणामों का ज्वलन्त उदाहरण है। करीब १५० साल तक बड़ी तेजी से

और बड़े-बड़े केन्द्रित कारखानों में धूम-धड़ाके के साथ उत्पादन करने के बावजूद आज वहाँ की जनता भूखी और नंगी है और अन्य उपभोग्य वस्तुओं की भी वहाँ नितान्त कमी है। करोड़ों लोगों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा है और समुद्र में डूबकर या बमों द्वारा नष्ट होकर कितनी संपत्ति बर्बाद हुई होगी, इसका कोई हिसाब ही नहीं। हमें तो स्थायी समाज-व्यवस्था निर्माण करनी है, इसलिए ऐसी गुटवाली व्यवस्था से हमें चार कदम दूर ही रहना चाहिए। गुटवाली व्यवस्था के कारण अन्त में झगड़ा और विनाश अवश्यंभावी है। कुछ समय के लिए भले ही उसमें चमक-दमक दिखाई दे, पर अन्त में चलकर वह जलकर खाक होनेवाली ही है, इसलिए वह क्षणभंगुर ही है। इसलिए हिन्दुस्तान में गुट की व्यवस्था के क्या परिणाम निकल सकते हैं, यह देखने के लिए समय बर्बाद करने की जरूरत नहीं।

हमें तो स्थायी समाज-व्यवस्था निर्माण करनी है, इसलिए हमें यह देखना चाहिए कि मनुष्य समाज में कैसा बर्ताव रखे और उससे कैसे एकात्मभाव प्राप्त करे। तभी हम स्थायी समाज-व्यवस्था निर्माण करने में कुछ प्रगति कर सकेंगे।

पहले भाग में हमने देखा कि मनुष्य समाज में एक व्यक्ति की हैसियत से कैसे बर्ताव करता है। उसके उपभोगों के लिए कौनसे मूल्यांकन काम में लाने चाहिए, यह भी हमने देखा।

अब इस भाग में हम देखेंगे कि पूरे समाज के उत्पादन और वितरण की निस्बत कौनसा रवैया रखना चाहिए। समूह में काम करने के तीन तरीके हो सकते हैं : (१) उत्पादन के लिए वह अकेला ही काम करता है, पर कभी-कभी खास क्रियाओं के लिए समानधर्मियों से उसे सहयोग भी करना पड़ता है। अपने पड़ोसी के साथ किये हुए इस काम में उसका खुद का फायदा होता है और साथ ही साथ पड़ोसी का भी फायदा होता है और अन्त में पूरे समाज का भी फायदा होता है; (२) कभी-कभी मनुष्य मिल-जुलकर काम करते हैं, इसीको सहकारिता

कहते हैं और यह समूह-प्रधान व्यवस्था में काम का दूसरा तरीका है और (३) काम का तीसरा तरीका वह है, जिसमें व्यक्तियों या सहकारी संस्थाओं को तात्कालिक फायदे के काम सौंपे जाते हैं और लम्बी मियाद के बाद फायदा मिलनेवाले काम ऐसे निःस्वार्थी लोगों के गुट को सौंपे जाते हैं, जिनके लिए सामाजिक उत्कर्ष ही सर्वोपरि है। ऐसे गुट को हम 'राज्य' कहते हैं। दुनिया के मौजूदा तथाकथित राज्यों में ऊपर की व्याख्या में बराबर बैठ सके, ऐसा राज्य दिखाना शायद मुश्किल है। आज के राज्य आम जनता के हितों का खयाल ही भूले हुए-से दिखाई देते हैं।

प्रथम हम यह देखेंगे कि समाज के लिए योजना कैसी होनी चाहिए, बाद में यह देखेंगे कि मनुष्य अपने पड़ोसी का हित खयाल में रख-कर अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने में कौनसा रुख अख्तियार कर सकता है। उसके बाद हम यह देखेंगे कि सहकारी प्रयत्नों से कौन-कौनसे काम हो सकते हैं और अन्त में यह देखेंगे कि राज्य के कर्तव्य क्या हैं और लोगों को अपना ध्येय साध्य कराने में राज्य या सरकार किस हद तक सहायक हो सकती है। इन सबका विचार करते समय हमें प्रथम भाग में निर्दिष्ट सिद्धान्त हमेशा खयाल में रखने पड़ेंगे। क्योंकि जब मनुष्य सामूहिक रूप से काम करता है, तब भी उस पर वे ही सिद्धान्त लागू होंगे, जो व्यक्तिगत मनुष्यों पर लागू होते हैं।

पहले और दूसरे भाग में निर्दिष्ट योजनाओं पर यदि पूर्ण रूप से अमल किया जाय, तो अहिंसा पर अधिष्ठित ऐसी समाज-रचना निर्माण होगी, जिसमें मनुष्यों की प्राथमिक जरूरतें खूब अच्छी तरह पूरी होंगी, इसलिए उनसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति निर्माण होगी।

योजना की आवश्यकता और उसका स्वरूप : १ :

हम यदि कोई योजना बनाना चाहते हैं, तो उसे आखिर किस हेतु से बनाते हैं ? कई लोग ऐसा मानते हैं कि राष्ट्रीय योजना बनाना बड़ी टेढ़ी खीर है और केवल तज्ञ और विशेषज्ञ ही उसे समझ सकते हैं। पर वास्तव में यदि एक मामूली आदमी भी हमारी योजना का मकसद या हेतु नहीं समझता है, तो हमारी वह योजना बेकार है। यदि हमारे किसान हमारी योजना का मतलब नहीं समझते हैं और उसे कार्यान्वित करने में दिलोजान से सहायक नहीं होते हैं, तो वह राष्ट्रीय योजना नहीं कही जा सकती। यह मूलभूत बात हम जब तक अच्छी तरह नहीं समझ लेते हैं, तब तक हम कोई भी योजना कार्यान्वित नहीं कर सकते। हाँ, यदि हम रूस जैसा हिंसा का प्रयोग करें, तो फिर रूस के माफिक किसी भी योजना को हम 'राष्ट्रीय' कह सकते हैं। अपनी योजना कार्यान्वित करने में हम खून बहाना नहीं चाहते। हम तो यह चाहते हैं कि योजना लोगों के सामने रखी जाय। उसे देखकर लोग स्वयं समझ लें कि वह उनके फायदे की है या नहीं। यदि वे उसे पसंद करते हैं, तो उनका सहकार्य हमें अवश्य मिलेगा।

हमें तो ग्रामों का ऐसा संगठन करना है, जिससे ग्रामीण जनता अधिक सुखी और समृद्ध बने और हरएक व्यक्ति को व्यक्तिगत तौर पर और एक अच्छे संगठित समाज के घटक के तौर पर, विकास की पूरी गुंजाइश रहे। यह काम स्थानिक व्यक्तियों की सहायता और स्थानिक साधन-सामग्री के अधिक-से-अधिक उपयोग द्वारा ही किया जाना चाहिए। आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में सहकारिता द्वारा ऐसी ही उत्क्रांति होनी चाहिए। इसलिए स्वयंपूर्ण और संगठित गाँव बनाना हमारा ध्येय होगा। जिस गाँव में जो भी योजनाएँ बनायी जायँ, वे उस

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
BANGALORE-1.

गाँव के फायदे की तो होनी ही चाहिए, पर साथ-ही-साथ वे समूचे देश की बड़ी योजना की विरोधी न होनी चाहिए। इस तरीके से काम करने से अंततोगत्वा एक न्याय्य और प्रजातंत्रवादी समाज-व्यवस्था आप-ही-आप निर्माण हो जायगी।

नियोजन के मानी क्या हैं?—साध्य को सफल करने के लिए कई बातें इकट्ठी करना, इसको हम नियोजन कह सकते हैं। हिंदुस्तान में वे कौन-सी बातें हैं, जिन्हें हमें एक सूत्र में लाना चाहिए? हो सकता है कि हमारे नियोजन में ऐसी कई बातें होंगी, जो दूसरे देशों में नहीं पायी जातीं। इसलिए जो नियोजन रूस ने जारी किया या इंग्लैंड तथा अमेरिका ने स्वीकृत किया, वह हमें अपने ध्येय पर पहुँचाने के लिए उपयुक्त न होगा।

हम जब ग्रेट-ब्रिटेन का नियोजन बतलाते हैं, तब एक ताज्जुब की बात हो जाती है। ब्रिटिश लोग योजना नहीं बनाते, पर योजनापूर्वक काम करते हैं। यह उनकी खासियत है। वे हरएक आदमी को विशिष्ट योजना के मुताबिक काम करने पर बाध्य करते हैं। अव्वल में यदि कोई नियोजन न होता, तो आज ब्रिटिश साम्राज्य और ब्रिटिश व्यापार दिखाई नहीं देता। ब्रिटिश लोगों की आर्थिक कार्रवाइयाँ, साम्राज्य के मुख्तलिफ मुल्कों में जारी की हुई व्यापारविषयक रियायतें, उनकी नौसेना, उनकी नाविक नीति, ये सब उनके नियोजन के अंग हैं। शायद वह राष्ट्रीय नियोजन न होगा; वह लंदन से या बैंक ऑफ इंग्लैंड से जारी किया हुआ नियोजन होगा, पर वह आखिर है तो नियोजन ही।

सारांश यह है कि ये सब नियोजन—भले वह रूसी नियोजन हो, अमेरिकी नियोजन हो या अंग्रेजी नियोजन हो—अपनी-अपनी परिस्थितियों के कारण बने हुए हैं। अगर उन सब चीजों की हस्ती हमारे देश में न हो और उन देशों की जैसी अवस्था हमारे देश में नहीं पायी जाती हो और ऐसी हालत में भी हम अगर उन्हींकी राह पर चलकर अपना नियोजन बनायेंगे, तो हम बेशक धोखा खायेंगे।

योजना—हिंदुस्तान जैसे दारिद्रय, गंदगी, बीमारी और अज्ञान से भरे देश की योजना में नीचे दिये हुए मुख्य कार्यक्रम होने चाहिए :

१. कृषि,

२. ग्रामीण उद्योग,

३. सफाई, आरोग्य और मकान,

४. ग्रामों की शिक्षा,

५. ग्रामों का संगठन और

६. ग्रामों का सांस्कृतिक विकास।

मकसद—रूसियों ने जब नियोजन किया, तब रूस जार की हुकूमत के नीचे दबा हुआ था। अमीर लोग धन-मद में मस्त थे और गरीब लोग जुल्म के नीचे रगड़े जाते थे। इसका स्वाभाविक नतीजा यह हुआ कि किसानों ने यह पुकार की कि जब हम सत्ताधारी होंगे, तब हम भी मालमस्त बनेंगे। मालमस्त होना, इसका मतलब यह है कि अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाना और उनको तृप्त करना। रहने के लिए आलीशान मकान, ऐशो-आराम की अच्छी-अच्छी चीजें—ये सब पैदा या प्राप्त करना ही उन्होंने अपना मकसद मान लिया और उनके लिए प्रयत्नशील हुए। उनके नियोजन की बुनियाद इस तरह की थी।

हिन्दुस्तान में हमेशा यह कहा जाता है कि हमको गरीबी नाबूद करनी है। लेकिन गरीबी के मानी क्या हैं? किसीने कहा है कि गरीबी के मानी हैं, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ होना। पर आवश्यकता किसे कहा जाय? क्या रोल्स रॉइस मोटरगाड़ी एक आवश्यक चीज है? यदि कोई स्त्री लिपस्टिक (ओठ रँगने की डिब्बी) खरीदना चाहती है, पर उसके पास उतने पैसे नहीं हैं, तो क्या वह गरीब है? कई आवश्यकताएँ बुनियादी रहती हैं और कई कृत्रिम। कई आवश्यकताएँ ऐसी रहती हैं, जिनकी पूर्ति के बिना आदमी का जीना असम्भव-सा हो जाता है। आदमी को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए और अपनी हस्ती टिकाये रखने के लिए वे आवश्यक होती हैं। ये कुदरती

भी हैं और इन्हींकी पूर्ति के लिए हम कोशिश करेंगे, न कि कृत्रिम आवश्यकताओं की।

बुनियादी आवश्यकताओं में भी अहम दर्जे की कौन-सी हैं? प्रथम तो भोजन है। आप नङ्गे रह सकते हैं, पर भूखे नहीं रह सकते। हमारे देश में अकाल आकस्मिक न बनकर सदा की चीज हो गयी है। इसलिए हमारी योजना का उद्देश्य इस हालत को मिटाने का होना चाहिए। अकाल से हम कैसे बचें और लोगों को हम अधिक खुराक कैसे दें? इसके लिए हमारे पास कौन-से साधन हैं? क्या पूँजी के बल पर यह हम सिद्ध कर सकेंगे? कई लोग कहते हैं कि आप जितनी अधिक पूँजी लगायेंगे, उतना आपका उत्पादन अधिक होगा। अर्थशास्त्र के पंडितों ने आवश्यक पूँजी का और उसके फलस्वरूप बढ़नेवाली प्रतिशत पैदावार का हिसाब लगाया है। वे शायद मानते हैं कि खेतों में पैसा बोने से पैदावार बढ़ सकती है। पर ऐसा कभी नहीं होता।

हमारे देश में उत्पादन का सबसे बड़ा साधन मनुष्य की मेहनत है। यदि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हमें करनी है, तो इस बढ़िया साधन का अधिक-से-अधिक उपयोग कर हमें अपनी भूख की तृप्ति करनी चाहिए।

उत्पादन की पद्धति के बारे में विदेशों में ऐसी मान्यता है कि आधुनिक यन्त्रों से सुसज्जित बड़े-बड़े कारखाने खोलने से लोगों की माली हालत सुधर जायगी। इस मान्यता को सच मानने के पहले हमें उसकी जाँच करनी चाहिए। लाभदायक रीति से उत्पादन के संगठन का अर्थ है, उत्पादन के कई घटकों को योग्य रीति से एक जगह लाना। इन घटकों में मुख्य हैं कुदरती साधन, पूँजी और मजदूर। विभिन्न परिस्थितियों में इनमें से कुछ मौजूद रहेंगे और कुछ मौजूद नहीं रहेंगे। ब्रिटेन में जब औद्योगिक क्रान्ति हुई, तब वहाँ पूँजी की बहुतायत थी, इसलिए वहाँ की व्यवस्था में पूँजी प्रधान है। अमेरिका में मजदूरों की कमी थी, पर कुदरती साधन बहुतायत से थे, इसलिए वहाँ श्रम बचाने के लिए बनायी गयी

मशीनों का प्राधान्य रहा। यदि हम इन दोनों चीजों को अपने यहाँ भी वैसे ही बरतने लग जायँ, तो साफ है कि मजदूरों की कम आवश्यकता पड़ेगी और बेकारी बढ़ेगी। इसलिए हमारे देश में, जहाँ पूँजी कम है और मजदूर अधिक हैं, इंग्लैंड और अमेरिका की हूबहू नकल करना गलत होगा।

मनुष्य स्वयं एक सूक्ष्म यन्त्र है। उसमें और अन्य निर्जीव यन्त्रों में फर्क इतना ही है कि उससे आप चाहे काम लें या न लें, यदि उसे जिन्दा रखना है, तो उसे खाना देना ही पड़ेगा। इसलिए यदि हम यन्त्रों के द्वारा अन्य आवश्यक चीजें पैदा करने लग जायँ, तो भी उनके कारण निठल्ले बने मजदूरों को खुराक तो देनी ही पड़ेगी। इसलिए अपने देश में पायी जानेवाली परिस्थिति के लिहाज से हमें मजदूरों द्वारा ही उत्पादन करने का रवैया अख्तियार करना चाहिए। यदि हम ऐसा नहीं करते हैं, तो हम इतनी बड़ी मनुष्य-शक्ति बेकार जाने देने की मूर्खता करते हैं। यह रास्ता कभी हमें खुशहाली की तरफ नहीं ले जा सकता।

किसी राष्ट्र की समृद्धि केवल उसके भौतिक उत्पादन पर ही निर्भर नहीं रहती। ऐसा उत्पादन तभी तक ठीक है, जब तक वह वहाँ के लोगों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए होता है। इसलिए सबसे पहले तो हमें लोगों को उनकी आवश्यकता की चीजें तैयार या पैदा करने के लिए संगठित करना चाहिए। खाने के लिए भरपूर खुराक, पहनने को समुचित कपड़े और रहने को ठीक मकान, ये पहले नंबर की जरूरतें हैं। इनके बाद उनकी शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक उन्नति के लिए औषधोपचार, शिक्षा और सामाजिक सुविधाएँ पूरी करने का सवाल आता है। जब तक हम अपनी बुनियादी जरूरतें पूरी नहीं कर लेते, तब तक निर्यात के लिए उत्पादन करने की बात सोचना ही बेवकूफी है। रुपयों की खन-खन सुनने की हविस रखनेवाले कंजूस की वह हविस पूरी करने के सिवा अन्य कोई आवश्यकता धातु के रुपये पूरी नहीं कर सकते। केवल रुपया

बटोरना किसीका ध्येय बन नहीं सकता। यदि हमारी व्यवस्था ऐसी हो कि लोगों के पास रुपया तो काफी आ जाता है, पर उनकी आवश्यकता की चीजें उन्हें मिलती ही नहीं या उन्हें भूखा ही रहना पड़ता हो, तो ऐसा रुपया आखिर किस काम का ? हमारा पहला कर्तव्य तो लोगों के लिए भरपेट भोजन, रहने को मकान और पहनने को कपड़े मुहैया करने का है। दीगर बातें बाद की हैं। किसी भी सरकार का, जो सरकार कहलाने का दम भरती हो, पहला फर्ज यह है कि लोगों की सारी क्रियाएँ उनकी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति में लगाये।

लोगों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के अलावा, उनमें स्वावलंबन, सहयोग और सामाजिक एकता की भावना भरना भी हमारा कर्तव्य है। यदि हम इतना कर लेंगे, तो स्वराज्य की राह की एक बड़ी मंजिल आत्मनिर्भरता के जरिये पार कर लेंगे।

यहाँ हमें याद रखना चाहिए कि हम जो योजना बना रहे हैं या बनाना चाहते हैं, वह चंद लोगों के लिए नहीं, बल्कि राष्ट्र के हरएक नागरिक के लिए है। यदि योजना संतोषजनक बनानी है, तो उसे हरएक आदमी के जीवन को स्पर्श करना चाहिए। इतनी विस्तृत बुनियाद की योजना, हमारे जैसे पूँजी के अभाववाले दरिद्र देश में, पूँजी के बूते पर बनायी ही नहीं जा सकेगी। इसलिए जो योजना पूँजी के बूते पर बनायी जाती है या खुराक जैसी बुनियादी जरूरतों की उपेक्षा करके बनायी जाती है या हमारे देश में उपलब्ध मनुष्य-शक्ति को भुलाकर बनायी जाती है, वह हिंदुस्तान के लिए कभी उपयुक्त नहीं हो सकती। पश्चिम के राष्ट्रों की योजना का मध्यबिन्दु भौतिक उत्पादन है, याने वे कुदरत के हरएक साधन का उपयोग कर लेना चाहते हैं। पर यह सब किसलिए, इसके बारे में उनकी राय कुछ पक्की नहीं है। मेजें और कुर्सियाँ निर्माण करने से हमारी बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं।

यदि कोई नयी आर्थिक व्यवस्था हिंदुस्तान के लिए मान्य की जानेवाली हो, तो उसकी शुरुआत किसान से होनी चाहिए और क्रमशः

उसी नींव पर सारे देश की आर्थिक व्यवस्था बाँधनी चाहिए। इस व्यवस्था से हम लोग शायद इंग्लैंड और अमेरिका के लोगों जैसे धनवान् न होंगे, लेकिन देश में खाद्य-पदार्थों की बहुतायत रहा करेगी। पाँच साल पहले इंग्लैंड को भूखों मरने की नौबत आ गयी थी।

अतः वस्त्र और खुराक की आत्मनिर्भरता हिंदुस्तान की किसी भी योजना की बुनियाद होनी चाहिए। हर गाँव यदि वस्त्र और खुराक की दृष्टि से आत्मनिर्भर न बना, तो स्वराज्य मिलना बेकार हुआ। गाँव के हर-एक व्यक्ति को उचित खुराक और कपड़ा मिलना ही चाहिए। ऐसी बात जिस योजना में न होगी, उसे अपने देश के लायक नहीं समझना चाहिए। टाटा-बिड़ला या अन्य नयी योजनाएँ अमल में लाने के लिए करोड़ों रुपयों की जरूरत है, जो आपके पास नहीं हैं। पर इस नयी योजना के लिए एक पाई की भी आवश्यकता नहीं है। इसमें जरूरत है जनता की कर्तव्यशक्ति को उचित मार्ग दिखाकर उससे समुचित लाभ उठाने की।

खेती : २ :

हमें सबसे पहले खुराक और कपड़ों की फिक्र करनी चाहिए और उस दृष्टि से हमें खेती और ग्रामीण उद्योगों पर सारा ध्यान केंद्रित करना चाहिए। खेती की पैदावार पर दो दृष्टियों से नियंत्रण रखना पड़ेगा : (१) स्थानीय जरूरत के मुताबिक भोजन की चीजें तथा अन्य प्राथमिक आवश्यकताओं के कच्चे माल की उपज उसी प्रदेश में करना और (२) वहाँ की उपज ऐसी बनाने की कोशिश करना, जिससे ग्रामोद्योगों के लिए आवश्यक सामग्री मिल सके। फैक्टरी के लिए उत्पादन करना दूसरे नम्बर पर आना चाहिए। उदाहरणार्थ, मोटे छिलके के गन्नों की फैक्टरियों को जरूरत रहती है; इसलिए उनके बजाय गाँव की चरखी में पेरे जाने लायक पतले छिलके के गन्ने की पैदावार करनी चाहिए। उसी प्रकार लम्बे रेशेवाली रूई फैक्टरियों के लिए भले ही अच्छी हो, पर हाथ से कातने के लिए तो छोटे रेशे की रूई का ही उपयोग होता है, इसलिए उसीकी काश्त को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। जो अतिरिक्त जमीनें हों, उनमें ऐसी पैदावार, जिनकी आसपास के प्रदेशों में जरूरत हो, की जा सकती है। फैक्टरियों के लिए की जानेवाली गन्ना, तम्बाकू, जूट आदि की पैदावार तो कम-से-कम या बिल्कुल ही खतम कर देनी चाहिए। किसान इसी नीति पर अमल करें, इसके लिए सरकार को चाहिए कि वह हर जमीन में उपज विशेष की खेती अनिवार्य कर दे और जो किसान पैसे की लालच से फैक्टरियों के लिए आवश्यक पैदावार करना चाहें, उन पर भारी महसूल और लगान की ऊँची दर लगाकर ऐसी पैदावारों की ओर से उन्हें धीरे-धीरे उदासीन कर देना चाहिए। सारांश यह है कि खेती की पैदावार का मूल्य, जैसे भी हो, फैक्टरियों की बनी वस्तुओं के मूल्य के आसपास रखने की कोशिश करनी चाहिए।

तम्बाकू, जूट, गन्ना आदि व्यापारिक फसलें दोहरी नुकसानदेह हैं। उनके कारण मनुष्य और मवेशी दोनों की खुराक में कमी पड़ जाती है। अनाज की खेती से मनुष्य को भोजन और मवेशियों को चारा मयस्सर होता है।

अन्न और दूध जैसी प्राथमिक आवश्यकता की चीजों से स्टार्च और केसीन बनाकर व्यापार की वस्तुएँ बनाने की प्रथा तो जड़ से ही खतम कर देनी चाहिए। फैक्टरी के लिए उपयुक्त गन्ने की खेती कम होने से गुड़ की उत्पत्ति में कमी होना सम्भव है। आज जिन ताड़ के झाड़ों से मादक ताड़ी निकाली जाती है, उनके रस से—नीरा से—गुड़ बनाकर यह कमी बखूबी पूरी की जा सकती है। ये पेड़ बहुत से तो बेकार खड़े रहते हैं और बेकार बंजर जमीन में उगाये भी जा सकते हैं। इनसे हमारी चीनी या गुड़ की माँग भलीभाँति पूरी हो जायगी। इस तरह हमारी जो अच्छी जमीन गन्ने की खेती से बचेगी, उसमें अनाज, फल, सब्जी बोकर देश की भोजन की कमी की समस्या हल करने में सहायता की जा सकती है।

हमें शुरुआत संतुलित आहार से करनी चाहिए। हिन्दुस्तान में अधिकांश लोग केवल अनाज पर ही निर्वाह करते हैं और केवल अनाज से शरीर के लिए सारे आवश्यक द्रव्य काफी परिमाण में नहीं मिलते। यदि हम ऐसी व्यवस्था कर सकें कि हरएक गाँव अपने संतुलित आहार के लिए आवश्यक चीजों की पैदावार करे, तो हरएक शख्स को संतुलित आहार मिलना कोई कठिन बात न होगी। उस दृष्टि से हरएक किस्म की पैदावार के लिए कितने एकड़ जमीन रख छोड़नी चाहिए, यह तय किया जा सकता है।

आमतौर से माना जाता है कि एक एकड़ जमीन से अनाज द्वारा ही सबसे अधिक कैलरी का भोजन प्राप्त किया जा सकता है। यदि कैलरियों का सवाल छोड़ दें, तो भी अनाज में संरक्षक तत्त्व बहुत कम होते हैं। इसलिए यदि ये तत्त्व भी अनाज से ही पूर्ण किये जाने हों, तो

हमें बहुत अधिक मात्रा में अनाज की जरूरत पड़ेगी। परन्तु यदि फल, दूध, दूध की बनी वस्तुएँ, कड़े छिलके के फल, गुड़, तिलहन इत्यादि भी आहार में शामिल कर लिये जायँ, तो समतोल आहार के लिए संरक्षणतत्त्व अनाज की अपेक्षा इनकी (फलादि) कम मात्रा में ही मिल सकेगा। एक एकड़ जमीन में की गयी अनाज की काश्त से जितनी कैलरी का आहार मिल सकता है, उससे कहीं अधिक कैलरियाँ गुड़ और आलू की जाति की साग द्वारा मिल सकती हैं। इस प्रकार समतोल आहार हमारे लिए एक दोहरा आशीर्वाद होगा और हमारी समस्या भी हल कर सकेगा। इसके कारण प्रति मनुष्य जमीन की आवश्यकता भी कम हो जायगी और साथ-ही-साथ शरीर की सब आवश्यकताओं की पूर्ति होने से शरीर स्वस्थ और चुस्त बना रहेगा।

हिसाब के अनुसार भारत में प्रति मनुष्य ७ एकड़ जमीन ही अन्नोत्पादन के लिए प्राप्य है। यही थोड़ी-सी जमीन, मौजूदा हालत में हमारे लिए समुचित आहार उत्पन्न करने में असमर्थ है; पर बनायी गयी योजना के अनुसार वह आवश्यकता की पूर्ति करने में समर्थ होगी। इस तरह स्थानिक जमीन को इस हिसाब से बाँटना चाहिए कि वहाँ की आबादी को समतोल भोजन, कपड़ा और अन्य जरूरत की चीजें वहाँ की पैदावार से मिल सकें। प्रश्न के इस पहलू पर गौर किया जाना चाहिए और निश्चित योजना बनाकर उसे कार्यान्वित करने के लिए किसानों को कानूनन विशेष जमीन में विशेष खेती करने के लिए बाध्य करना चाहिए। एक लाख की आबादी के लिए समतोल खेती की योजना नीचे की तालिका में दी गयी है :

१. खुराक	औंस प्रतिदिन	कैलरी	पौंड प्रतिवर्ष	आवश्यक जमीन एकड़ों में	बीज के लिए तथा १५% बरबादी आदि के लिए	कुल जोड़	जमीन का बँटवारा %
अनाज	१६	१६००	३६५·००	४३४००	६५१०	४९९१०	६५·२
दाल	२	२००	४५·६०	५४००	८१०	६२१०	८·०
गुड़	२	२००	४५·६०	१२००	१८०	१३८०	१·८
कड़े छिलके के फल	१	१४५	२२·८०	२६००	३९०	२९९०	८·४
तेल	½	...	११·४०	३०००	४५०	३४५०	
घी	½	२५५	११·४०	...	...	...	...
दूध	१२	२४०	२७३·७५	...	...	...	...
सब्जी	८	४८	१८२·५०	१६००	२४०	१८४०	२·४
आलू तथा कन्द	४	१००	९१·२५	१०००	१५०	११५०	१·५
फल	४	५२	९१·२५	९००	१३५	१०३५	१·४
२. कपड़े (रूई)	...	...	१२·५०	७५००	११२५	८६२५	११·३
कुल	...	२८४०	११५३·०५	६६६००	९८९०	७६५९०	१००·०

हिन्दुस्तान की जनसंख्या और उपजाऊ क्षेत्रफल के आँकड़ों से यह मोटे तौर पर कोष्ठक बनाया गया है। यह सब जगह जैसा का तैसा लागू किया जा सकेगा, ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। स्थानिक परिस्थिति के अनुसार इसमें आवश्यक हेरफेर अवश्य करने पड़ेंगे। यदि हम फी आदमी १६ औंस अनाज देते हैं, तो उसका मतलब होगा कि हमें अनाज के लिए पूरी जमीन का ६५·२ प्रतिशत देना पड़ेगा। उसी प्रकार यदि हम प्रति व्यक्ति २ औंस दाल रखें, तो हमें पूरी जमीन का ८ प्रतिशत दाल की काश्त के लिए देना पड़ेगा।

एक लाख की आबादी के हिसाब से यह कोष्ठक बनाया गया है। यदि एक देहात या कुछ देहात मिलकर इस परिमाण में चीजें अपने यहाँ पैदा कर सकें, तो वहाँ के लोगों की प्राथमिक आवश्यकताएँ पूरी हो सकेंगी। इसलिए हमें इन्हीं चीजों की काश्त करने का ध्येय रखना चाहिए। जमीन एक सामाजिक देन है और उसका उपयोग पूरे समाज की जरूरत के खयाल से किया जाना चाहिए। यदि कोई कहे कि "मेरे पास इतने एकड़ जमीन है और मैं उसमें तम्बाकू बोऊँगा", तो उसे ऐसा करने का कोई हक नहीं है, भले ही उसे तम्बाकू की काश्त से अधिक पैसा मिलना सम्भव हो। समाज में रहकर हम हरएक चीज अपने मन की नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ, हम सड़क की दाहिनी ओर से गाड़ी नहीं चला सकते। जमीन पर आपका मालिकी हक है, इसमें कोई शक नहीं, पर उसका उपयोग आपको ऐसा करना चाहिए कि हर किसीको फायदा हो। इसीलिए सुझाया गया है कि खास किस्म की काश्त करने के लिए लाइसेंस देने की प्रथा होनी चाहिए। जिसे अलसी बोने का लाइसेंस दिया गया हो, वह तम्बाकू की काश्त कभी नहीं कर सकेगा, चाहे उसे उससे दसगुनी आमदनी होने की भी सम्भावना क्यों न हो।

हमारा ध्येय यह है कि जब तक गाँव के लोगों को अपनी पैदावार की जरूरत है, तब तक वह गाँव में ही रहे, और केवल अतिरिक्त पैदावार ही निर्यात की जाय और वह भी उन्हीं चीजों के बदले में, जिनकी उस

गाँव के लोगों को जरूरत हो। उदाहरणार्थ, यदि किसी गाँव में कपास होती है, तो वह मिलों में पहुँचकर उसका तैयार कपड़ा उस गाँव में वापस आये, यह नहीं हो सकता; क्योंकि उस कपड़े के बदले में हमें और कोई चीज देनी ही पड़ेगी। यदि हमें अपनी खुराक की चीजें नहीं गँवानी हैं, तो हमें ही फुरसत के समय में उस कपास से कपड़ा बनवाने का काम खुद करना होगा। जब हम ऐसा करेंगे, तब हम गाँव की अनाज की पूरी पैदावार गाँव में ही रखकर अपनी आवश्यकता का कपड़ा भी प्राप्त कर लेंगे। इस प्रकार हमारा दोहरा फायदा होगा। पर इस व्यवस्था से मिलों को जरूर नुकसान पहुँचेगा। हमारा मुख्य ध्येय गरीबों का फायदा देखना है और वैसा करते हुए यदि अमीरों का कुछ नुकसान होता है, तो हम उसके लिए लाचार हैं। हम जब इस तरीके से काम शुरू कर देंगे, तभी हम देखेंगे कि गाँववाले खुराक और कपड़े की निस्बत स्वावलम्बी बन गये हैं।

इस प्रकार समतोल आहार की आवश्यक चीजें तय करके हम उपलब्ध जमीन का इस कदर बँटवारा करेंगे, ताकि लोगों को आवश्यक खुराक मिल सके। ऐसा होने के बाद यदि कोई अतिरिक्त पैदावार बच जाय, तो ही उसे बाहर भेजने का विचार करना चाहिए। जो चीजें लोगों को पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल सकतीं, उन्हें यदि कोई व्यापारी बाहर भेजने की कोशिश करे, तो वह देशद्रोही कहलायेगा। उसी प्रकार लोगों को उपयुक्त व्यवसाय मयस्सर कराने की दृष्टि से भी आवश्यक चीजें प्राप्त करने की कोशिश होनी चाहिए।

• • •

विनिमय

: ३ :

विविध उद्देश्यीय सहकारी समितियाँ—केवल ग्राम-उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए ही नहीं, बल्कि ग्रामीणों में सहकारिता की भावना निर्माण करने के लिए सहकारी समितियाँ बहुत अच्छे साधन हैं। विविध उद्देश्यीय सहकारी समिति नीचे दिये हुए कामों के लिए बहुत उपयोगी होगी—जैसे १. उद्योगों के लिए जरूरी कच्चे माल का और ग्रामीणों की आवश्यकता का अनाज संग्रह करना, २. ग्रामों की अतिरिक्त पैदावार बेचने की व्यवस्था करना और लोगों को आवश्यक चीजें वितरित करना, ३. बीज, सुधरे हुए औजार, हड्डी, मछली और मांस की खाद आदि प्राप्त करना और ग्रामीणों को बाँटना, ४. निर्धारित क्षेत्र के लिए एक अच्छा साँड़ पालना तथा ५. सरकार और लोगों के बीच टैक्स आदि वसूल करने की कड़ी बनना।

यदि सहकारी समिति की मार्फत अनाज का व्यवहार किया जाय, तो उसे यहाँ से वहाँ ले जाने में जो खर्च पड़ता है और उससे जो नुकसान होता है, वह बच जायगा। आज की जो पद्धति है—किसी केंद्र में सारी पैदावार इकट्ठी करना और वहाँ से फिर हरएक ग्राम में उसे भेजना—उसमें भारी खर्च पड़ता है। सहकारी समिति को यदि यह काम सौंप दिया जाय, तो यह सारा खर्च बच जायगा और सहकारी समितियाँ आमतौर से लोगों की तथा सरकार की दोनों की विश्वासपात्र रहती हैं।

एक किसान अपनी आवश्यकता का गेहूँ अपने पास रख लेगा और अतिरिक्त गेहूँ सहकारी समिति में अपने खाते में जमा करायेगा। उस साख के बूते पर वह अपनी आवश्यकता की अन्य चीजें समिति से ले लेगा। सरकारी लगान भी इसी प्रकार पैदावार के रूप में वसूल किया जायगा। उसके लिए नकद रुपये ही जमा कराने की आवश्यकता नहीं।

आज किसानों से लगान नकद रुपयों में वसूल किया जाता है, जिससे उनको काफी तकलीफ होती है। यदि सहकारी समितियों के पास देहातों में अनाज जमा रहा करेगा, तो स्थानिक सरकारी मुलाजिमों को उनकी तनखाह का कुछ हिस्सा अनाज के रूप में देना बहुत सुविधाजनक होगा।

नकद पैसे चीजों के सच्चे दामों के प्रतीक नहीं होते। एक आदमी के पास से दूसरे आदमी के पास चले जाने में पैसे का मूल्य भी बदल जाता है। एक गरीब के पास का एक रुपया और एक अमीर के पास का एक रुपया, इनका मूल्य एक-सा नहीं होता। एक के हाथ से दूसरे के पास पैसा जाने से कभी तो राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि होती है और कभी वह राष्ट्र को बिल्कुल दरिद्री बना देता है। यों तो दोनों के हाथ में रुपया रुपया ही दिखाई देता है, पर व्यवहार में उसकी कीमत बदल जाती है। एक गरीब आदमी के हाथ में वह चार-पाँच दिन की उसकी खुराक का मूल्य रखता है, जब कि एक अमीर के हाथ में वह शायद एक सिगार का ही मूल्य रखता हो। इस प्रकार एक गरीब के हाथ से अमीर के हाथ में पहुँचने से रुपये का मूल्य काफी घट जाता है, पर यदि अमीर के पास से वह गरीब के पास पहुँच जाय, तो उसका मूल्य बढ़ जाता है। अतः अपने आयोजन में हमें देखना चाहिए कि पैसा ऐसे हाथों में न पहुँच जाय, जहाँ उसकी कीमत घट जाती है। विविध उद्देश्यों की सहकारी समिति यही करने की कोशिश करती है। समिति किसानों से अनाज इकट्ठा करेगी और उसमें से सरकार का महसूल अनाज के रूप में पटा देगी। सरकारी अधिकारियों को भी सरकारी खाते में से समतोल आहार के योग्य अनाज आदि खुराकी चीजें वह देगी। इतना सब करने के बाद सरकार और समिति के बीच बहुत कम लेन-देन रह जायगा और वह प्रदेशों के बीच अतिरिक्त पैदावार के परस्पर विनियोग से पूरा किया जा सकेगा। यदि ऐसा हुआ, तो नकद पैसे की बुराई को नष्ट नहीं, तो कम तो अवश्य किया जा सकेगा। और ऐसा होने पर वस्तु का नकद के रूप में जो गलत दाम ठहराया जाता है, उसके बदले वस्तु का वस्तु के रूप में सच्चा दाम निश्चित होगा। ● ● ●

सहकारिता : ४ :

बैंक का काम—उद्योग और व्यापार का काम सुचारु रूप से चालू रखना यह एक बैंक का प्रमुख कर्तव्य है। इसके अलावा एक सहकारी संस्था का यह कर्तव्य है कि वह किसी आर्थिक संगठन के घटकों में सहकारिता निर्माण करे।

पश्चिमी देशों में बैंकों की सफलता इन बातों पर कूती जाती है कि उनमें कितनी रकम जमा है और उन्होंने कितना मुनाफा कमाया। पर हम वैसा नहीं कर सकते। हम तो यह देखेंगे कि किसी बैंक की बदौलत लोगों की माली हालत किस हद तक सुधरी है। जितनी हद तक वह सुधरी हुई दिखाई देगी, उतनी हद तक वह बैंक सफल माना जायगा। लोगों के आर्थिक जीवन के कार्यों के संबंध में बैंक को विभिन्न काम करने पड़ते हैं और संभवतः वैसा करते हुए उसे नुकसान भी पड़े। किसी बैंक का लोगों की खुशहाली से कितना ताल्लुक है, यह रुपया, आना, पाई में नहीं आँका जा सकता।

पश्चिम में पूँजीपतियों ने उत्पादकों का रक्त निकालने के लिए बैंकों का पिचकारी की सूई जैसा उपयोग किया है। रिजर्व बैंक और इंपीरियल बैंक ने अपने अधिकारों का इसी प्रकार दुरुपयोग किया। इसीलिए १९४३ के भीषण अकाल में केवल बंगाल में ही ३० लाख आदमी मर गये। इन बैंकों में सरकारी पैसे रखे रहते हैं, पर इनके कारनामे काफी काले हैं।

पैसा जब तक विनिमय का जरिया या क्रयशक्ति-संचय करने का साधन रहता है, तब तक उसका ठीक-ठीक उपयोग हुआ, ऐसा माना जा सकता है। खरीदी जानेवाली वस्तुएँ नश्वर होती हैं, पर पैसा बहुत

हद तक नष्ट न होनेवाला होता है। इसलिए जिसके हाथ में पैसा होता है, वह वस्तुएँ रखनेवाले आदमी से अच्छी हालत में रहता है। एक केला बेचनेवाली को यह फिक्र रहती है कि केले सड़ने के पहले बिक जाने चाहिए; पर जिसके पास पैसा है, उसे पैसा सड़ने का कोई डर नहीं रहता। इसलिए केलेवाली की अपेक्षा वह बहुत अच्छी हालत में रहता है। इस असमानता में पैसेवाला वस्तुवाले से बेजा फायदा उठा सकने की क्षमता रखता है। यह तो मानी हुई बात है कि बैंक पैसेवाले होते हैं। इस पैसे का वे समाज की भलाई के लिए उपयोग करते हैं या बुराई के लिए, इस पर उनका उद्योगों में और व्यापार में स्थान अवलंबित रहेगा। यदि एक बैंक अपने ग्राहकों का नुकसान करके निजी बुनियाद पुख्ता बनाने के लिए अपनी शक्ति का उपयोग करता है, तो वह समाज के आर्थिक संगठन में अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता है, ऐसा कहा जायगा। यह हुआ पैसे का विनिमय के साधन की दृष्टि से विचार।

क्रयशक्ति-संचय के लिए पैसा—चूँकि पैसा वस्तुओं से अधिक टिकाऊ है, इसलिए उसके इस गुण का लोगों को अपनी क्रयशक्ति संचित कर रखने के लिए उपयोग करना चाहिए। एक किसान खेती करता है और फसल की कटाई के बाद अपनी फसल बेच देता है। उसे कुछ रकम मिल जाती है, जिस पर उसे दूसरी कटाई तक अवलंबित रहना पड़ता है। इसका मतलब यह हुआ कि आगामी १२ महीनों तक उसे उसी रकम के एवज में अन्य चीजें मिलती रहनी चाहिए। पर इस दरमियान यदि पैसे की क्रयशक्ति में फर्क पड़ जाय, तो उसी हद तक किसान की आर्थिक हालत भी बदल जायगी। इसीलिए हमारे सरीखे कृषिप्रधान देश में ऐसा कोई जरिया ढूँढ़ निकालना जरूरी है, जिससे क्रयशक्ति संचित करने की शक्ति कायम बनी रहे। इस दिशा में विविध उद्देश्यीय सहकारी समितियाँ हाथ बँटा सकती हैं, क्योंकि वे पैसे का कम-से-कम उपयोग लाजिमी कर सकती हैं। ऐसा करने से चीजों के भावों में बेजा घटा-बढ़ी नहीं होगी और किसानों की फसल के आधार पर समितियाँ उन्हें कुछ

आवश्यक सहायता भी कर सकेंगी, ताकि किसानों को अपनी पूरी फसल एकदम न बेच देनी पड़े।

सहकारिता—अब हम सहकारिता के दूसरे पहलू पर पहुँच गये। सहकारिता में स्पर्धा का अभाव अभिप्रेत रहता ही है, पर साथ-ही-साथ सबके फायदे की दृष्टि से मिल-जुलकर काम करने की प्रवृत्ति बढ़ाना यह भी इसका एक उद्देश्य होता है। सहकारिता में दूसरे से बेजा फायदा उठाने का सवाल ही नहीं उठता। शोषक और शोषित इनमें सहकारिता निर्माण नहीं हो सकती। यहाँ जो विदेशी आते हैं, वे अपनी चीजें हमें बेचने के लिए आते हैं। इसी दृष्टि से वे हमसे नाता जोड़ते हैं। इसीलिए वे दूसरों को अपनी गुलामी में रखते हैं! यदि सहकारी समितियाँ बुनकरों को अमेरिकी सूत मयस्सर कराती हैं, तो वे दो परस्परविरुद्ध चीजों को सम्बद्ध करती हैं और इसलिए वे सच्चे अर्थ में सहकारी नहीं हैं। उनका उचित काम यह है कि वे स्थानिक कातनेवालों और बुनकरों में हमजोली निर्माण करें। कच्चे माल के शुरू से लेकर खपत योग्य तैयार माल बनने तक सारी क्रियाओं में सहकारिता निर्माण करनी चाहिए। जिस प्रकार एक चाँदी का तार माला के मोतियों को इकट्ठा रखता है, उसी प्रकार सहकारी समिति को तमाम पक्षों को बाँधनेवाला सूत्र बन जाना चाहिए।

सहकारी बैंक भोले-भाले ग्रामीणों को सरकारी नौकरों के फंदों से बचा सकते हैं। ऐसी संस्थाएँ फसल इकट्ठी कर सकती हैं, उन्हें स्टोर कर सकते हैं, अपने खातेवालों के लगान और दीगर टैक्स दे सकती हैं, पूरे साल तक उचित बाजार भाव में फसल बेच सकते हैं। ऐसा करने से समूची फसल एकदम बाजार में नहीं पहुँचती और भाव नहीं गिरते। समुद्र में चलनेवाले जहाज के वॉटर टाइट कंपार्टमेंट के समान वे काम कर सकती हैं और आर्थिक संगठन में आकस्मिक धक्का सहन करने के साधन भी बन सकती हैं।

किसी भी सहकारी समिति के उचित कार्य-संपादन की कसौटी उसके

पक्के आँकड़े नहीं, बल्कि उसके आसपास के बाजार हैं। यदि बाजार की दूकानों में मिलों का बना या विदेशी माल भरा पड़ा दिखाई देगा, तो कहना होगा कि हमारी आवश्यकताएँ पूरी करने की दृष्टि से उत्पादन के विभिन्न जरियों में कोई सहकारिता निर्माण नहीं की गयी है। यदि सहकारी संस्थाएँ उचित ढंग से चलायी जायँ, तो वे हमारी बुनियादी आवश्यकताओं की निस्बत याने खुराक, कपड़ा और रहने के लिए मकान आदि की निस्बत, हमें आत्मनिर्भर बना देंगी। ऐसा जब होगा, तब विदेशी कारखानेवालों को हमारी ओर लालच भरी निगाहों से देखने का कोई कारण न रह जायगा। अर्थात् फिर अंतर्राष्ट्रीय मनमुटाव नहीं होगा और विश्वव्यापी युद्ध भी न होंगे। इससे यह स्पष्ट है कि यदि ठीक ढंग से सहकारी समितियाँ काम करती रहेंगी, तो राष्ट्रीय स्वतंत्रता आप ही आप निर्माण होगी और उसके जरिये अंतर्राष्ट्रीय शांति भी कायम रहेगी।

खाद—आज ग्रामों में कूड़ा, करकट, हड्डियाँ, मल-मूत्र आदि बेकार जाते हैं और सफाई भी बिगाड़ते हैं। इनका यदि कंपोस्ट खाद बना लिया जाय, तो वह खेती के लिए बहुत उपयुक्त होगा। कंपोस्ट खाद बनाना बहुत आसान है और वह गोबर की तरह ही उपयुक्त है। हड्डियाँ और खली इनको कभी ग्रामों के बाहर जाने ही न देने चाहिए, क्योंकि बाहर जाने से वे एकदम देश के बाहर निर्यात हो जाती हैं। हड्डियों को प्रथम चूने की भट्ठी में भूनकर और फिर चूने की चक्की में पीसकर पाउडर खाद के तौर पर ग्रामीणों को बाँट देनी चाहिए। ग्रामीणों को खाद के ठेके दे देने चाहिए। इससे ग्रामों की सफाई भी होगी और कंपोस्ट बनानेवाले भंगियों का दर्जा तिजारत करनेवालों जैसा ऊँचा उठ जायगा।

तेल की मिलें देहातों से तिलहन ले जाती हैं और उन्हें केवल तेल ही लौटाती हैं। वे सारी खली विदेशों को भेज देती हैं। पर इस प्रकार वे जमीन को एक ऊँची खाद से वंचित रखती हैं। खली का यह निर्यात कतई बंद कर देना चाहिए। इसी दृष्टि से हमारा आग्रह है कि ग्रामों की तिलहन

ग्रामों के बाहर जाने ही न देनी चाहिए। वह स्थानीय घानियों में ही पेरी जाय। इससे तेल और खली दोनों ग्रामों में बने रहेंगे और मनुष्य, जानवर और जमीन तीनों समृद्ध होंगे।

जमीन का उपजाऊपन बढ़ाने के लिए रासायनिक खाद जारी करने की जमकर कोशिशें हो रही हैं। इन खादों के व्यवहार से दुनिया को जो अनुभव हुआ है, वह हमें इनसे दूर रखने के लिए काफी है। वे जमीन का उपजाऊपन नहीं बढ़ाते, बल्कि जमीन के लिए एक नशे के तौर पर काम कर जाते हैं। शुरू-शुरू में उत्तेजित होकर जमीन भरपूर फसल देती है, पर कुछ समय बाद जमीन बिल्कुल निस्सत्त्व बन जाती है। यह रासायनिक खाद जमीन के कई जन्तु, जैसे केंचुए आदि, जिनकी बदौलत जमीन का उपजाऊपन कायम रहता है, मार डालते हैं। इस प्रकार दूरंदेशी से यदि देखा जाय, तो रासायनिक खाद जमीन को बेहद नुकसान ही पहुँचाते हैं। रासायनिक खादों के प्रचार के पीछे उन खादों की फैक्टरियों के मालिकों को अपने कारखानों का माल खपाने की ही धुन रहती है, फिर ऐसा करते हुए हम खेती को कितना नुकसान पहुँचा रहे हैं, इसकी उन्हें कोई परवाह नहीं रहती।

बीज—चुने हुए बढ़िया किस्म के बीज अच्छी पैदावार के लिए जरूरी हैं। ऐसे बीज वितरण करने के लिए कोई अच्छी व्यवस्था होनी चाहिए। इसके लिए सहयोग समितियों से बढ़कर दूसरा कोई कारगर साधन नहीं हो सकता। ये समितियाँ बीज पैदा करने के लिए सुयोग्य अन्वेषकों की देखभाल के नीचे खास खेतों में खेती करें।

अनाज-संग्रह—केवल गलत तरीके से अनाज-संग्रह करने से बड़ी भारी मात्रा में हानि होती रहती है। इस तरह होनेवाले नुकसान का अन्दाज सालाना ३५ लाख टन कूता जाता है। सन् १९४६ में देश में जितना अनाज कम होने की बात बतायी गयी थी, उसके यह बराबर है। इसके अलावा कीड़े, चूहे, नमी आदि द्वारा जो नुकसान होता है और उससे अनाज की पोषकता पर जो बुरा असर पड़ता है, वह अलग रहा।

यदि गोदामों में अनाज रखने का काम अपनी जगह पर किया जाय, तो कीड़ों से खराब होने, रखने पर खराब होने और लाने-ले जाने में बर्बाद होने और खर्च होने के नुकसान से उसे बचाया जा सकता है।

इसलिए अनाज-संग्रह करने की समस्या बड़ी जरूरी और हमेशा की है और उसे हल करने की जोरदार कोशिश होनी चाहिए। पर अवैज्ञानिक रीति से बने गोदामों में अनाज इकट्ठा करने की प्रथा को तो एकदम रोक ही देना चाहिए।

कस्बों और शहरों में, जहाँ अधिक गल्ला इकट्ठा किया जाता है, पक्के सीमेण्ट के गोदाम बना लेने चाहिए। उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर के गोदाम इस दृष्टि से आदर्श हैं। ऐसे गोदाम म्युनिसिपैलिटी बनवा सकती है या स्वतन्त्र रूप से बनवाये जाकर गल्ला इकट्ठा करने के लिए किराये पर उठाये जा सकते हैं। इन गोदामों को लाइसेन्स दिया जाय और ब्वॉइलरों की तरह उनका भी निरीक्षण किया जाना चाहिए।

अगर अनाज गाँव में ही संग्रह किया जाता है, तो उसके शहर में आने और फिर गाँव में वापस जाने की सारी झंझट बच जाती है और उसके खराब होने की कम सम्भावना रहती है।

जो लोग अपना गल्ला खुद खत्तियों में रखते हों, उन्हें भी उसे ठीक तरीके से रखने का ज्ञान कराना चाहिए।

गाँव का कच्चा माल गाँव में ही रहेगा—सबसे बड़ी अड़चन जो ग्राम-उद्योगों के सामने है, वह है गाँव के दस्तकार को कच्चा माल मिलने की कठिनाई। असंगठित होने के कारण अकेला दस्तकार अपने जबरदस्त मुखालिफ, संगठित और साधन-सम्पन्न मिलों के सामने टिक ही नहीं पाता। ये साधन-सम्पन्न मिलें कच्चे माल को केवल अपने लिए हथियाकर, तैयार माल भी सुदूर कोनों तक में पहुँचाकर, बेचारे कारीगर को कहीं का भी नहीं रहने देतीं। बैंकों की आर्थिक नीति, अन्यायपूर्ण रेल की दरें, पूँजीपतियों की व्यापारिक संस्थाएँ सभी बड़े पैमाने पर उत्पादन के पक्ष में होकर बेचारे देहाती कारीगरों को एक ओर रख

छोड़ती हैं। गाँवों के कारीगरों के लिए गाँवों में कच्चा माल कठिनता से बच पाता है। यह प्रणाली एकदम उल्टी कर दी जानी चाहिए। गाँवों में पैदा हुआ कच्चा माल गाँवों में ही रखा जाकर वहीं उसकी खपत होनी चाहिए, और जो केवल अतिरिक्त माल बचे, वही गाँव के बाहर जाने देना चाहिए। उत्पादन भी उन्हीं चीजों का कराना चाहिए, जो कि ग्राम-उद्योगों के लिए आवश्यक हों, न कि उनका, जो मिलों के लिए जरूरी हों।

औजार और सरंजाम का प्रबन्ध—ग्रामोद्योगों के काम में आनेवाले औजार और सरंजाम देश के हर भाग में एक-से नहीं होते। कहीं-कहीं तो प्रांत के विभिन्न भागों में भी वे भिन्न-भिन्न हैं। उनके सुधार के लिए संशोधन की आवश्यकता है। ग्राम के कारीगरों को सुधरे हुए औजार और उनके हिस्से बराबर मिल सकें, इसके लिए विविध उद्देश्यीय सहकारी समितियाँ कोशिश कर सकती हैं।

जिलों के प्रदर्शन-केंद्र—सहकारी समितियों के प्रदर्शन-केन्द्र ग्रामों में होने चाहिए और उनके काम निम्नलिखित होने चाहिए: (१) गाँवों के कारीगरों के लिए औजार बनाना और बाँटना और उनमें सुधार करना, (२) बढ़इयों तथा अन्य कारीगरों को शिक्षा देना और विभिन्न उद्योगों के नवीनतम सुधारों से उन्हें अवगत कराना, (३) स्थानीय दस्तकारियों और उनके काम में आनेवाले औजारों का छोटा-सा संग्रहालय बनाना, (४) उस जिले के उद्योगों और वहाँ के लोगों के स्वास्थ्य की जाँच करके उनका ब्योरा बनाना तथा (५) गाँवों की सर्वसामान्य उन्नति के लिए स्थानीय सहयोग समितियों और हिंदुस्तानी तालीमी संघ के स्कूलों से मिल-जुलकर काम करना।

ग्राम-उद्योग : ५ :

१. धान-पिसाई—विविध उद्देश्यीय सहकारी समितियाँ कच्चा माल मुहैया करा सकती हैं, तैयार माल संग्रह कर सकती हैं और तमाम ग्राम-उद्योगों की बनी चीजों का—खासकर अनाज, कपड़ा और अन्य बुनियादी जरूरतों का—वितरण करने में सहायक हो सकती हैं। उन्हें ग्रामीणों के हित के लिए सदैव सतर्क रहना चाहिए। खासकर निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान देना चाहिए :

(१) त्रावणकोर की तरह सब जगह चावल की मिलें बन्द करा दी जायँ और उनके इंजनों से सिंचाई का काम लिया जाय।

(२) चावल पॉलिश करने के हलर्स पर पाबन्दी लगा दी जाय।

(३) जनता को बिना छड़े या छाँटे चावक की पौष्टिकता के बारे में शिक्षा दी जाय और उसके पकाने का ठीक ढंग बताया जाय। चावल को पॉलिश करने की मनाई कर दी जाय या उसके पॉलिश करने की हद मुकर्रर की जाय या उसना चावल इस्तेमाल करने पर जोर दिया जाय।

(४) जहाँ धान कूटने का धंधा इस समय चल रहा है या बड़े पैमाने पर व्यापारिक ढंग से काम हो रहा है, वहाँ गाँव के काम करनेवालों को सामूहिक तौर पर धान से चावल अलग करने की मशीनें, छिलके उड़ाने के पंखे जैसे कीमती औजार सहयोग समितियों की मार्फत किराये पर दिये जायँ।

(५) बिना छड़े चावल के प्रयोग से उसकीखपत बढ़ने पर धान का यातायात बढ़ जायगा। उस हालत में उसके एक जगह से दूसरी जगह जाने में जो अतिरिक्त किराया लग जायगा, उससे चावल की कीमत न बढ़े, इसलिए धान के लिए किराये की सहूलियत की दर निश्चित की जानी चाहिए।

(६) ऐसी जगहों में, जहाँ धान कूटने और चावल पॉलिश करने की क्रिया एकदम होती है, वहाँ छिलका अलग करनेवाली मिट्टी, लकड़ी या पत्थर की हल्की चक्कियों का प्रयोग शुरू किया जाय, जिससे चावल का छड़ा जाना बंद हो जायगा। ऐसे साधन अन्य ग्रामोद्योगों के औजारों के साथ जिले के प्रदर्शन-केन्द्र द्वारा बाँटे जा सकते हैं। चावल पॉलिश करने के साधनों को कम करने के लिए उन पर टैक्स लगा देना चाहिए और उनसे पॉलिश होनेवाले चावल की भी जाँच करके उसकी पॉलिश 'हद के अंदर' रखी जानी चाहिए। गाँव की आवश्यकता का धान और दूसरा गल्ला गाँव में ही जमा रखना चाहिए। जो अतिरिक्त हो, वही बाहर भेजा जाना चाहिए। इन सब कामों के लिए सहयोग समितियाँ ही उत्तम साधन होंगी।

२. आटा-पिसाई—(१) अच्छी किस्म के हाथ-चक्की के पत्थर और बैल-चक्की और पनचक्की बनाने के साधन प्रदर्शन-केन्द्रों की मार्फत वितरित किये जायँ।

(२) एकदम सफेद आटा या मैदा बनाना और उसका उपयोग बंद कर दिया जाय।

(३) आटे की मिलें बहुत बड़ी मात्रा में आटा पीसती हैं और उसका संग्रह कर रखती हैं, जिससे उसके सड़ने का डर रहता है। इसलिए आटे की मिलों को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए।

(४) जहाँ कहीं संभव हो, बैल-चक्कियों का प्रचार करना चाहिए।

(५) जहाँ नदी या नहरों से जल-शक्ति मिल सकती हो, वहाँ उसका उपयोग पनचक्कियाँ लगाने के लिए कर लेना चाहिए।

(६) जैसा कि पंजाब में होता है, ऐसी पनचक्कियाँ सहयोग समितियों द्वारा चलायी जा सकती हैं।

३. तेल-पेराई—देहाती घानियों को पुनरुज्जीवित करने में नीचे दी हुई कठिनाइयाँ मुख्य हैं :

(१) फसल की कटाई के दिनों में गाँवों का सब तिलहन गाँवों के

बाहर चला जाता है। यह अवस्था बदलने के लिए केवल अतिरिक्त पैदावार ही बाहर जाय, ऐसी व्यवस्था करनी पड़ेगी।

(२) कुछ स्थानों की घानियाँ इतनी छोटी और अकार्यक्षम हैं कि उनसे काम चलाना असम्भव है। एक ही सूबे में कई किस्म की घानियाँ चलती हैं। इन सबकी कार्यक्षमता की जाँच करके सुधरी हुई घानी की श्रेष्ठता दिखायी जाय।

(३) पुराने तर्ज की घानी बना सकनेवाले बढ़इयों की भी भारी कमी है। तेलियों को जरूरत पड़ने पर उन्हें प्रयत्नपूर्वक ढूँढ़ना पड़ता है। उन्हें घानियों के फुटकर भाग और अन्य साधन मिलना भी मुश्किल होता है। इसलिए ऐसे केन्द्र खोले जायँ, जहाँ तेलियों तथा बढ़इयों को सुधरी घानी चलाने तथा बनाने की शिक्षा दी जा सके और जहाँ से उन्हें साधन और फुटकर भाग मिल सकें।

(४) तहसील के तेलियों की सहकारी समितियाँ या विविध उद्देश्यीय ग्राम सहकारी समितियाँ तिलहन संग्रह कर रखने, तेल, तिलहन और खली के भावों पर नियन्त्रण रखने और मिलावट रोकने में सहायक होंगी।

४. गुड़ बनाना—(१) ताड़-गुड़ बनाने का उद्योग मद्रास और बंगाल में संगठित रूप से बड़े पैमाने पर किया जा रहा है।

(२) **ताड़ के पेड़ों को बोना और उनकी देखभाल**— ताड़ के पेड़ों को तोड़ने की सख्त मुमानियत होनी चाहिए। सरकारी बंजर जमीन, जो खेती के लिए उपयुक्त न हो, ताड़ के पेड़ लगाने के काम में लानी चाहिए, जिससे समय पाकर गन्ने के गुड़ की जगह ताड़ का गुड़ काफी मिल सके। इसके अलावा स्वतन्त्र रूप से जो लोग इन्हें मेंड़ों और अपने खेतों में लगाना चाहें, उन्हें आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहित करना चाहिए। इसके लिए उचित परिमाण में अच्छी किस्म के पौधे बाँटे जायँ और उनके लगाने का सही तरीका लोगों को सिखाया जाय।

(३) **सहकारी समितियाँ**—उत्पादन और बिक्री करने का काम सहकारी समितियों को करना चाहिए। इन्हें आवश्यकतानुसार कड़ाहे

और सेंट्रिफ्यूगल मशीनें आदि साधन किराये पर देने का जिम्मा भी ले लेना चाहिए।

५. मधुमक्खी-पालन—मधुमक्खी-पालन से दोहरा लाभ है। इसकी वजह से फसल अच्छी होती है और मधु के रूप में एक पोषक खाद्य वस्तु भी मिलती है।

प्रदर्शन-केन्द्र अपने पास कुछ छत्ते रख सकता है और आसपास के गाँवों में, जहाँ कहीं मक्खियों के लायक खुराक मिल सकती हो, उनका विस्तार कर सकता है। इसके लिए उन स्थानों की पहले से मधुमक्खी-पालन-विशारदों द्वारा जाँच हो जानी आवश्यक है। एक बार यदि मधुमक्खियाँ हिल-मिल जाती हैं, तो वह केन्द्र किसानों को मधुमक्खी-पालन सिखाने का केन्द्र बन सकता है और उन्हें माफिक दामों में आवश्यक साधन भी दे सकता है।

६. कपास और ऊन—ऐसे सूबों में, जहाँ कपास पैदा हो सकती है, प्रति मनुष्य १२½ पौंड रूई मिल सके, इस हिसाब से कपास की खेती के लिए जमीन मुकर्रर कर देनी चाहिए और अखिल भारत चरखा-संघ के प्रोग्राम के अनुसार उस रूई की कताई और सूत के बुने जाने का इन्तजाम हो जाना चाहिए।

उसी तरह जहाँ भेड़ें पाली जा सकती हैं, वहाँ ऊन के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया जाय। इसके लिए भेड़ की नस्ल सुधारने और ऊन का वर्गीकरण करने की ओर ध्यान दिया जाय।

७. चमड़ा पकाना—हिन्दुस्तान दुनियाभर में सबसे अधिक कच्चा चमड़ा बाहर भेजता है। यदि इस सारे कच्चे चमड़े को पके हुए चमड़े में परिवर्तित कर सकें, तो हम अपने लाखों हरिजन भाइयों को काम दे सकेंगे। पकाने के लिए समय अधिक लगने से पूँजी की जरूरत होती है, इसलिए यह काम सहकारी समितियों के द्वारा होना चाहिए। समितियों को कच्चा चमड़ा खरीदकर उसके पकाने की क्रिया के विभिन्न

हिस्से ठेके पर करा लेने चाहिए और तैयार पका चमड़ा या उसकी बनी हुई चीजें बेचनी चाहिए।

(१) यों तो चमड़ा पकाने का काम हर सूबे में हो रहा है, पर सब जगह पकाई एक-सी अच्छी नहीं होती। कलकत्ते का क्रोम और मद्रास की 'गवी' अच्छे चमड़े माने जाते हैं; पर इनकी बराबर का चमड़ा बनाने की कोशिश कहीं नहीं हो रही है। अन्य जगहों का चमड़ा इनकी तुलना में बहुत हल्का साबित होता है। ऐसा क्यों होता है, इसके कारण खोजकर हर जगह एक-से दर्जे का चमड़ा तैयार होने की व्यवस्था करनी चाहिए।

(२) कच्चे चमड़े और खालों के निर्यात को रोकने के लिए सरकार को भारी निर्यात-कर लगाना चाहिए।

(३) मरे हुए जानवरों को ढोने के लिए सहकारी समितियों की मार्फत कुछ चमारों के समूहों को सस्ते दामों पर एक गाड़ी दी जानी चाहिए। ऐसी गाड़ी न होने से मुर्दा जानवर घसीटकर ले जाना पड़ता है। अन्दाज लगाया गया है कि इस प्रकार घसीटे जाने से जानवरों की खालों की कीमत ५०% घट जाती है।

(४) आजकल जिस तरीके पर यह धन्धा चल रहा है, वह बड़ा अस्वास्थ्यकर है और उसे बिलकुल बदल देना चाहिए। उसके लिए गाँव के बाहर थोड़ी दूरी पर जगह मुकर्रर कर दी जाय और वहाँ इमारत, गड्ढे, नालियाँ, पानी आदि की सुविधा कर दी जाय और ऐसी क्रियाओं के लिए, जो खासकर अस्वास्थ्यकर हों, सादी मशीनों का उपयोग किया जाय। यदि ऐसा करने में तहसील या जिले के चमारों को एक स्थान पर इकट्ठा करना सुविधाजनक हो, तो वह भी लाभदायक ही होगा। ऐसे चर्मालय केवल चर्मकारों की अपनी सहकारी समितियों द्वारा ही चलाये जायँ।

(५) आज तो थोड़ी-सी जगहों में केन्द्रित रूप से बड़े पैमाने पर चमड़े का सामान बनता है और देशभर में भेजा जाता है। ऐसी व्यवस्था

तोड़ने के लिए उनके माल पर आयात-कर लगाकर या स्थानीय चमारों को आर्थिक सहायता देकर उन्हें वहाँ की आवश्यकता की वस्तुएँ जैसे मनीपर्स, जूते, चमड़े के बक्स, यहाँ तक कि पट्टे आदि का सामान तक बनाने के लिए प्रोत्साहित करना वांछनीय है।

(६) स्वतन्त्र ठेकेदारों को अथवा सहकारी समितियों को मरे जानवरों के खून, मांस और हड्डी से खाद बनाने के लिए आर्थिक सहायता (Subsidy) दी जानी चाहिए। यह आर्थिक सहायता खाद के अनुपात में होनी चाहिए।

(७) सरेस, ताँत, ब्रश और अन्य वस्तुएँ भी ये समितियाँ तैयार कर सकती हैं। सींग का काम भी चमारों के कुटुम्बों में भलीभाँति चल सकता है। उसको प्रोत्साहित करने के लिए शुरू-शुरू में थोड़ी आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए और बाद में जो माल बने, उसे सरकार खरीद ले। इस काम के साधन तो किराये पर ही दिये जाने चाहिए।

८. **साबुन बनाना**—सज्जी मिट्टी और खाने में न आनेवाले तेल कहाँ-कहाँ पर मिल सकते हैं, इनकी जाँच करनी चाहिए और इनको गाँवों में साबुन बनाने के काम में लाना चाहिए। जहाँ भी ऐसी मिट्टी मिल सके, वहाँ से उसे बिना किसी टैक्स के ले लेने की इजाजत होनी चाहिए। यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि इस क्षार-तत्त्व को जमीन से हटा लेने पर जमीन उपजाऊ बन जाती है।

९. **रोशनी**—न खाने योग्य तेल जैसे नीम, करंजी, रीठा, महुआ, रायन, भटकटाई के बीज इत्यादि का आजकल बहुत कम उपयोग होता है। इन्हें जलाने के काम में लाना चाहिए। इस बात का पूरा प्रयत्न करना चाहिए कि रोशनी के मामले में गाँव स्वावलम्बी हो।

अखिल भारत ग्राम-उद्योग-संघ का निकाला हुआ वनस्पतिजन्य तेल से जलनेवाला 'मगनदीप' प्रदर्शन-केन्द्रों की मार्फत बाँटा जा सकता है। स्थानीय कारीगरों को वैसे दीप बनाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

१०. हाथ-कागज—(१) प्रांतीय सरकारों को चाहिए कि वे हाथ-कागज बनाने का उद्योग उन जेलों में शुरू करें, जहाँ उसके बनाने के लिए आवश्यक कच्चा माल पास ही मिलता हो। इस काम के लिए एक विशारद द्वारा इस बात की जाँच होनी चाहिए कि किस जगह कौन-सा माल मिल सकता है।

(२) हाथ से कागज बनाने में आवश्यक सब रासायनिक द्रव्य कागज केन्द्रों को सहयोगी समितियों की मार्फत नियन्त्रित दामों में ही मिलें।

(३) अन्य उद्योगों और इसका मिला-जुला एक ऐसा वर्कशॉप हो, जहाँ इसके लिए आवश्यक मशीनरी जैसे बीटर, कैलेंडर, मोल्ड्स, स्क्रू प्रेस, लिफाफा बनाने की मशीन आदि बनें और वहाँ से इनका वितरण हो।

कागज बनानेवालों को उपर्युक्त किस्म की मशीनें सहकारी समितियों की मार्फत किराये पर या हल्की किस्तों में खरीदने की सहूलियत पर दी जायँ। जहाँ बिजली या अन्य किसी किस्म की शक्ति से चलनेवाली मशीनों द्वारा मावा बनता हो, वहाँ उसके बाँटने का भी काम सहकारी समितियाँ ही करें।

(४) आजकल सरकारी दफ्तरों की रद्दी, जंगल की घास और दीगर ऐसी चीजें, जो हाथ-कागज बनाने के काम में आ सकती हैं, सबसे ऊँची बोली बोलनेवाले को नीलाम कर दी जाती हैं। वे इन्हीं सहकारी समितियों को सस्ते दामों में हाथ-कागज बनाने के लिए दी जानी चाहिए। और साथ ही उनका बना हुआ कागज सरकार को अपने उपयोग के लिए ऐसे दामों पर खरीद लेना चाहिए, जिससे कागज बनानेवालों को जीवन-वेतन मिल सके।

(५) प्रान्तीय शिक्षा-केन्द्रों में हाथ से कागज बनाने में निपुण कारीगर तैयार किये जा सकते हैं।

(६) हाथ-कागज और उसे बनाने के लिए आवश्यक साधनों को

रेलवे से यातायात करने में प्रथम स्थान मिलना चाहिए और हाथ-कागज चुंगी और ऑक्ट्रॉय आदि से मुक्त होना चाहिए।

११. कुम्हार का काम—(१) इसके लिए पहली आवश्यकता है कि प्रान्त में पायी जानेवाली मिट्टी का पृथक्करण करने की।

(२) मिट्टियों को उचित मात्रा में मिलाने के लिए रसायन-शास्त्र जानने की जरूरत रहती है। इसलिए यह काम सहकारी समितियों द्वारा किसी एक केन्द्र पर या जेलों में हो और इस प्रकार मिलाकर तैयार की हुई मिट्टी कुम्हारों को दी जाय। इसके अलावा दूसरी सूरत यह है कि वर्तमान कुम्हारों को मिट्टियाँ मिलाने के नुस्खे बता दिये जायँ।

(३) अन्य उद्योगों की तरह यहाँ भी अच्छी मिट्टी बाँटने और संशोधित चाक किराये पर देने का काम सहकारी समितियों का होगा।

(४) विशेष प्रकार के बर्तनों की भट्टी लगाना और उन पर ग्लेज चढ़ाने का काम भी सहयोग से करना होगा। मिट्टी मिलाने, चमक देने और भट्टी लगाने का काम किराये पर या सहयोग द्वारा कुम्हारों को खुद करना चाहिए। भट्टी लगाने का काम, जो अब भी गाँव के कुम्हार करते हैं, सहयोग से मिलकर अच्छे प्रकार की भट्टियों में करने पर अच्छा होगा। ठीक से बनायी गयी भट्टियों में ईंधन का खर्च भी कम होगा। सभी ग्रामोद्योगों के लिए सस्ता ईंधन देने का जिक्र पहले भी किया जा चुका है।

ईंट और खपड़े आदि के लिए आवश्यक भट्टी सहयोग से बनानी चाहिए और इन चीजों को अधिक सुघड़ बनाने की कोशिश होनी चाहिए।

(५) कुम्हारों के लिए मिट्टी मिलाना, सुधरी हुई भट्टी बनाना, अच्छे सुडौल बर्तन बनाना और उन्हें चमक देना आदि की थोड़े समय की शिक्षा का किसी सुविधाजनक स्थान में प्रबन्ध होना चाहिए।

१२. सफाई और खाद—(१) कई तरह के प्रयोगों के बाद गाँवों के पैखाने किस प्रकार के होने चाहिए, यह निश्चित करना चाहिए।

हो सकता है कि एक से अधिक किस्म के पैखाने उपयुक्त हों और आवश्यक भी। किसी भी हालत में गाँव साफ-सुथरे रहें, यह देखना चाहिए। कुएँवाले (bore-hole type) पेशाबघर गाँव में जगह-जगह बनाये जायँ।

(२) गाँव का तमाम मैला और कूड़ा-करकट इनका खाद बनाने का कार्य करने के लिए कुछ आर्थिक सहायता देकर ठेकेदारों को तैयार करना चाहिए। यह सहायता खाद के परिमाण पर हो, पर साथ ही साथ आकर्षक भी हो। ऐसा किये बगैर कोई यह काम करने के लिए तैयार न होगा। कम-से-कम शुरू के कुछ दिनों या सालों तक ऐसी व्यवस्था करनी ही पड़ेगी।

(३) गाँव की सफाई के लिहाज से गाँव में मवेशी रखना या घरों में ही बाँधने की प्रथा को रोकना चाहिए। यद्यपि समस्या हल होने में लम्बा समय लगेगा, परन्तु गाँव के बाहर अस्तबल और जानवरों के बाड़े बनाये बगैर उसे साफ रखना कठिन है। जहाँ नयी बस्तियाँ बनें, वहाँ जानवरों को बाँधने का प्रबन्ध घरों से कुछ दूरी पर किया जाना चाहिए।

केवल गाँवों की सफाई के लिहाज से ही बहुत से लोग सहयोगी डेयरी और मवेशी-घर रखने की योजनाएँ बनाने के लिए उद्यत होते हैं। ● ● ●

प्रजातंत्र : ६ :

पहले हिंदुस्तान छोटे-छोटे देहातों का प्रजातंत्र था और हरएक देहात स्वायत्त रहता था। उसकी राज्य की अपनी खास कल्पनाएँ हैं, जो समाज में रहनेवाले व्यक्तियों की प्रकृति पर आधारित हैं।

मनुष्य-समाज में दो किस्म की प्रवृत्तियाँ रहती हैं। एक दूरदृष्टि की अपेक्षा करनेवाली और दूसरी संकुचित दृष्टि की। हममें से बहुत से लोग दूरदृष्टि से विचार करने में असमर्थ होते हैं, क्योंकि उसमें बिना फल पाये और देखे लंबे अर्से तक परिश्रम करते रहना ही पड़ता है। और इतना लंबा ठहरने की हमारी इच्छा नहीं होती। हम सब जल्द फल प्राप्त करना चाहते हैं। हम खाना, पीना और मौज करना चाहते हैं। सौ में से निन्यानबे लोग ऐसे होते हैं। किन्तु कई बातें ऐसी हैं, जो सारे समाज के हित के खयाल से करनी पड़ती हैं और जिनमें दूरदर्शिता अपेक्षित रहती है। प्रजातंत्र में यही अपेक्षित है। यदि प्रजातंत्र सफल बनाना हो और आम जनता की भलाई करनी हो, तो राज्य की सत्ता दूरदर्शी लोगों के हाथ में रहनी चाहिए। संकुचित दृष्टिवाले लोग समाज के लिए खतरा हैं। वे अपनी दृष्टि से युद्ध निर्माण कर देंगे।

इस दृष्टि से यदि देखा जाय, तो इंग्लैंड और अमेरिका सच्चे प्रजासत्तात्मक कभी नहीं साबित हो सकते। वहाँ पर तो तानाशाही ही दिखाई देती है। उन देशों में युद्ध के खतरे के समय किस स्वरूप का राज्य प्रचलित था, प्रजातंत्रात्मक या तानाशाही? बेशक, वहाँ पर खुले आम तानाशाही जारी थी। यह कोई योगायोग नहीं था, बल्कि वहाँ की परिस्थिति का स्वाभाविक फल था। इन देशों में बड़े-बड़े कारखानों के जरिये उत्पादन किया जाता है। कारखानों के मानी हैं, सत्ता या अधिकार का केंद्रीकरण और उसका स्वाभाविक परिणाम है, निरंकुशता। आर्थिक दृष्टि से निरंकुश सत्ता

या तानाशाही रखकर राजनीति में आप प्रजातंत्र नहीं स्थापित कर सकते। वैसा दावा करना लोगों की आँखों में धूल झोंकने जैसा है। आर्थिक दृष्टि से प्रजातंत्र स्थापित करने के मानी हैं, देहातों में किया गया व्यक्तिगत उत्पादन।

अलबत्ते, सिंचाई, सड़कें और ऐसे अन्य बड़े-बड़े काम सामूहिक तौर पर करने होंगे और ऐसे कामों के लिए दूरदृष्टिवाले लोगों का चुनाव होना चाहिए। अतः राज्य के सब मंत्री और बड़े-बड़े अफसर दूरदृष्टिवाले होने चाहिए। यदि वे हर चीज को रुपये, पैसों के फायदे की दृष्टि से देखें, तब तो कहना पड़ेगा कि वे जिम्मेवारी के पद पर बैठने के काबिल नहीं हैं। दूरदृष्टि में 'क्या यह लाभजनक है?' यह सवाल उतने महत्त्व का नहीं है, जितना यह है कि 'क्या यह आम जनता के फायदे का है?' सरकार कोई व्यापारी संस्था नहीं है, जो हमेशा मुनाफे की बातें सोचे। अच्छी नौकरशाही तैयार करना ही उसका ध्येय है। सरकार का कर्तव्य लोगों की सेवा करना है। यदि लोगों की सेवा या भलाई होती है, तो कीमत या खर्च का सवाल उठाना ही नहीं चाहिए। यह कार्य होना ही चाहिए, यह मूलभूत सिद्धान्त हमें हमेशा याद रखना चाहिए। यही व्यक्तिगत हिसाब और राजस्व में बहुत बड़ा अन्तर है। राजस्व दूरदर्शी होता है। प्रजातंत्र का आयोजन करते समय हरएक नागरिक को इसका भान करा दिया जाना चाहिए कि उस योजना में उसका हिस्सा कहाँ और कितना है।

कार्यकर्ता—लेकिन इन सब बातों की सफलता उस कार्य को करनेवालों की निःस्वार्थता पर निर्भर है। कार्यकर्ताओं में स्वार्थ रहा, तो करोड़ों की मेहनत का नाजायज फायदा उठाया जायगा। इसीलिए हम कांग्रेस मन्त्रिमंडलों के बारे में कहते हैं कि कई जगह काट-छाँट होनी चाहिए। पिछले कांग्रेस मन्त्रिमण्डल में ५०० रुपये माहवार तक वेतन उतार दिया गया था, लेकिन इस वक्त उसे बढ़ा दिया गया है; क्योंकि उनकी आवश्यकताएँ बढ़ गयी हैं। इसमें स्वार्थ की बू आती है। हम

लोगों को किसान के जीवन के दर्जे तक उतरना पड़ेगा। देहातों में लोग महलों में नहीं रहते, इसलिए हमें भी महल त्यागने होंगे। शहरों में कई महल रहते हैं और वहाँ रईस लोग रहते हैं; पर देहातों में महल नहीं होते।

कुछ रोज पहले देहात में मेरी एक मिशनरी से मुलाकात हुई। अपने मन्त्री जैसे रहते हैं, उस किस्म के अच्छे सजे-धजे बड़े बँगले में वह रहता था। वहाँ बिजली की व्यवस्था थी, पानी खींचने के लिए बिजली के पम्प, फ्लश के संडास और अन्य कई किस्म की आधुनिक सुख-सामग्री मौजूद थी। उसके पास ३०० एकड़ जमीन भी थी। उसके बँगले से कुछ दूर कुटुम्बों के रहने योग्य नमूनेदार मिट्टी के मकान बने थे। उनमें रहनेवाले हरएक कुटुम्ब को जोतने के लिए थोड़ी सी जमीन और पालने के लिए मुर्गियाँ दी गयी थीं। उस मिशनरी ने मुझसे सवाल किया, "हम लोग इन सब बातों में काफी पैसा खर्च करते हैं, तिस पर भी देहातियों पर उसका ज्यादा असर नहीं पड़ता। देहातियों के हृदय तक हम नहीं जा पाते। क्या इसके लिए आप कोई मन्त्र बता सकते हैं ?" मैंने कहा, "मन्त्र काफी सीधा और सरल है, और वह यह है कि आप अपने रहने का बँगला प्रथम जला डालिये। आप पश्चिम से आये हैं, इसलिए आपको यहाँ की सच्ची परिस्थिति मालूम नहीं है। आप लोगों को हरएक चीज रुपयों, पैसों में गिनने की आदत हो गयी है और जिसके पास अधिक पैसा रहता है, उसीकी आप लोग कद्र करते हैं। पर यहाँ इसका ठीक उल्टा है। यहाँ के देहाती हमारे सादे कपड़ों में ही हमारी कद्र करेंगे। यदि हमारे कपड़े १-२ जगह फटे हों, तो हमारी कुछ अधिक कद्र होगी। यदि हम कुरता पहनना छोड़ देंगे, तो वे हमारे पीछे चलने लगेंगे और यदि हम लँगोटी लगा लेंगे, तो वे हमारे पैर पड़ेंगे। हमारी संस्कृति रुपये-पैसे में नहीं गिनी जाती। इसलिए यदि आप इन गरीबों की सेवा करना चाहते हों, तो पहले आपको यह महल त्यागना होगा। यदि उनकी झोपड़ियाँ २५०) में बनती होंगी, तो आपको १२५) वाली झोपड़ी में रहना

होगा। ऐसा जब आप करेंगे, तभी वे आपकी बातें सुनेंगे। तभी आप लोगों के प्रति उनका विश्वास पैदा होगा और वे समझ जायँगे कि आप जो कुछ कर रहे हैं, उसमें आपका कोई स्वार्थ नहीं है। आप जैसा सोचते हैं, वैसा यह देश जंगली नहीं है। जनेऊ धारण करनेवाले कई आई० सी० एस० अफसर हजारों रुपये तनख्वाह कमाते हैं, पर वे मालदार हैं; इसी लिए उन्हें ब्राह्मण देवता समझकर पूज्य नहीं माना जाता। वे सचमुच में म्लेच्छ हैं। हम लोग सच्ची ब्राह्मण संस्कृतिवाले हैं और उसी दृष्टि से हम वस्तुओं का मूल्य कूतते हैं। महात्मा गांधीजी का महात्मापन इसी पर अधिष्ठित है। यदि गांधीजी अमेरिका गये होते, तो उन्हें देखने के लिए वहाँ भी काफी भीड़ उपस्थित होती। लेकिन हिन्दुस्तानी जिस श्रद्धाभाव से उन्हें देखने के लिए इकट्ठे होते थे, वह श्रद्धाभाव अमेरिकनों में नहीं दिखाई देगा। हम लोगों के लिए गांधीजी इसलिए पूज्य थे कि उनका निजी कुछ स्वार्थ कहीं नहीं था।" यही निःस्वार्थ सेवा हमारे कांग्रेस मन्त्रिमण्डल को पूरी ताकतवर बना सकती है और उन पर लोगों का विश्वास जम सकता है। उस हालत में आप जो भी योजना लोगों के सामने रखेंगे, उसे वे खुशी से अपनायेंगे। उसके लिए बहुत खर्च करने की भी जरूरत न रहेगी।

इसलिए सबसे पहले हरएक व्यक्ति का दृष्टिकोण ऊपर बताये गये ढंग के अनुसार बदलना होगा। तभी हम लोगों को असली स्वराज्य—आर्थिक स्वराज्य, जैसा मैंने ऊपर वर्णन किया है—हासिल हो सकता है। उसी किस्म के स्वराज्य में हरएक को भरपेट खुराक मिल सकेगी।

एक निर्धन देश में सबसे पहले सबके लिए खाने और कपड़े की व्यवस्था होनी चाहिए। अर्थात् किसी भी नयी व्यवस्था में कृषि-सुधार को सबसे ज्यादा महत्त्व दिया जाना चाहिए। आप कांग्रेसवाले हों या और किसी भी पक्ष के हों, लेकिन आपको यह अन्न की समस्या प्रथम हल करनी पड़ेगी।

विश्व-प्रतिक्रिया—केवल इसी जरिये से दुनिया में शान्ति स्थापित

हो सकती है। हिन्दुस्तानियों का चीन पर बहुत प्रभाव है। वह इसलिए नहीं है कि हम अणुबम बनाते हैं, बल्कि वह भगवान् बुद्ध के कारण है। ऐसा ही प्रभाव निर्माण करना हमारा मकसद है। हम एक विश्व-शक्ति बनना चाहते हैं, इसलिए हमें ग्रामों से शुरुआत कर ऊपर की ओर उठना चाहिए। सिर्फ हमारे ही सामने नहीं, बल्कि सारी दुनिया के सामने जो समस्या आज है, वह इसी तरीके से हल हो सकती है। सत्ताधीशों को चाहिए कि वे निःस्वार्थ बनकर यह योजना लोगों के सामने रखें। यह राष्ट्र के लिए एक सच्ची देन होगी।

सरकार का विरोधी पक्ष—लोगों के चुने हुए प्रतिनिधियों की जब सरकार बनती है, तब उसका कार्य ठीक दिशा में चलता रहे, इसलिए उसका एक विरोधी पक्ष रहना जरूरी होता है। नदी अपने किनारों के कारण ही अपने मार्ग से बहा करती है, यदि ये किनारे चट्टान हों, तो सबसे अच्छा। यदि वे चट्टान नहीं होते, तो किसी किनारे पर तो मिट्टी आ-आकर जमती रहेगी और कोई किनारा पानी से कटता रहेगा। परिणाम यह होगा कि समय पाकर नदी अपना मार्ग छोड़कर दूसरी तरफ से बहने लग जायगी। इसलिए नदी के मार्ग के लिए पानी और किनारों में कोई स्पर्धा नहीं हो सकती।

उसी प्रकार संचालक और संचालित इनमें कभी स्पर्धा नहीं होनी चाहिए। उनमें हमेशा सहकारिता की भावना होनी चाहिए।

जिस प्रकार नदी को अपने मार्ग से बहने के लिए उसके किनारों का पत्थर का होना अच्छा है, उसी प्रकार किसी भी सरकार की नीति ऐसी शक्तियों द्वारा संचालित होनी चाहिए, जो उसके दायरे के बाहर हों। ग्रेट ब्रिटेन को अभिमान है कि उसने सबसे पहले प्रजासत्तात्मक पद्धति की पार्लियामेंट कायम की। वहाँ सरकारी खर्चे से एक विरोधी पक्ष कायम किया जाता है, जो सरकारी नीति की समय-समय पर कड़ी आलोचना कर और सरकार की नीति के बारे में असली लोकमत क्या है, यह प्रकट कर सरकार के मन्त्रियों को बहकने नहीं देता है। ब्रिटेन की पार्लियामेंट

याने एक अखाड़ा ही है, जहाँ कई धुरन्धर राजनीतिक पहलवानों की हार या जीत हुई है। जो जीतता है, वह हारनेवाले को गद्दी से उतारकर स्वयं तख्तनशीन होता है। आज जो विरोधी पक्ष में दिखाई देते हैं, वे यदि पार्लियामेंट की बहस में बाजी मार ले जाते हैं, तो कल शासन के सूत्रधार बन जाते हैं। ब्रिटेन की पार्लियामेण्ट में विरोधी पक्ष का यही काम है। उनकी स्पर्धा-प्रधान अर्थ-व्यवस्था की झलक इस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में भी दिखाई देती है।

उनके मन्त्रिमण्डल की बनावट ही आर्थिक क्षेत्र में साम्राज्यवाद की परिचायक है। केन्द्रीय व्यवसायों को दुनिया के चारों कोनों से कच्चा माल मुहय्या कराना पड़ता है और उनका तैयार माल सुदूर स्थानों में खपाने की व्यवस्था करनी पड़ती है। इसके लिए पैसे का और यातायात के साधनों का धुआँधार उपयोग और निरंकुश राजनीतिक अधिकार चाहिए। इसलिए मन्त्रिमण्डल में विदेशों से सम्बन्ध, अर्थ और संरक्षण, ये विभाग महत्त्व के बन जाते हैं। इसीलिए ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में इन विभागों के मन्त्री बनने की हमेशा होड़ लगती है।

स्पर्धा और साम्राज्यवाद, इन दोनों की बुनियाद हिंसा ही है। अब हमारे देश की राज्य-व्यवस्था अपने ही हाथों में आ गयी है। यदि हम अहिंसा का मार्ग अपनाना चाहते हैं, तो हमारे यहाँ की राज्य-व्यवस्था कैसी होनी चाहिए? हमारी सरकार को भी गलत रास्ता अख्तियार करने से रोकने के लिए एक विरोधी पक्ष जैसी कुछ व्यवस्था तो होनी ही चाहिए। पर हम तो सहकारिता-प्रधान अर्थ-व्यवस्था कायम करना चाहते हैं, न कि स्पर्धा-प्रधान। इसलिए हमारी सरकार के विरोधी पक्षवाले पार्लियामेण्ट में हुई अपनी जीत के कारण सरकारी सदस्यों को हटा करके उनकी जगहों पर स्वयं विराजमान होने की ख्वाहिश नहीं रखेंगे। सहकारिता की भावना और अहिंसा पर अधिष्ठित अर्थ-व्यवस्था में व्यक्तिगत उत्कर्ष या बड़प्पन के लिए गुंजाइश ही नहीं है।

इसलिए हमें राज्य के मन्त्रियों को बदलने की कोशिश न करके

उनके सामने उनके अनुकरण के लिए आदर्श खड़े करने की कोशिश करनी चाहिए। रचनात्मक कार्यकर्ताओं को चाहिए कि वे अपने आदर्श बर्ताव के प्रकाश से उन्हें रास्ता दिखायें। अहिंसा-प्रधान व्यवस्था में रचनात्मक कार्य करनेवालों पर यह बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ती है।

यह मार्गदर्शक शक्ति निर्माण करने के लिए रचनात्मक कार्यकर्ताओं का एक अच्छा संगठन निर्माण करना होगा। उनके काम की अच्छाई और उससे हुई लोगों की सेवा, यही उनका आधार है। राज्य के मन्त्री ऐसे संगठन से स्फूर्ति ग्रहण करेंगे, क्योंकि यह संगठन धर्मनिरपेक्ष राज्य का मार्गदर्शक होगा। इस बहुत जिम्मेदारी के काम को अच्छी तरह से कर सकने के लिए ऐसे संगठन में ऐसे तपे हुए, त्यागी आदमी लिये जाने चाहिए, जिनका एकमात्र ध्येय और महत्त्वाकांक्षा लोगों की सेवा ही हो।

यदि उपर्युक्त व्यवस्था निर्माण हो जाय, तो उस हालत में आत्म-निर्भर व्यवस्था में महत्त्व रखनेवाले महकमे मन्त्रिमण्डल के जिम्मे रहेंगे। उस हालत में खेती, जमीन की उन्नति—जमीन के कटाव को रोकना, नयी जमीन तैयार करना, उसे अधिक उपजाऊ बनाना—सिंचाई, नदियों पर काबू रखना, जंगल, ग्रामीण और गृह-उद्योग, खनिज और बड़े कारखाने, स्वास्थ्य, शिक्षा और गृह-विभाग इन महकमों का प्राधान्य रहेगा। संरक्षण, अर्थ और वैदेशिक सम्बन्ध विभाग चाहे कितने ही महत्त्व के क्यों न हों, पर उन्हें देखनेवालों को मन्त्रिमण्डल में स्थान मिलने की कोई जरूरत नहीं है।

इस प्रकार के राजनीतिक ढाँचे में रचनात्मक कार्य करनेवालों के संगठन के कारण लोगों के शोषण का डर नहीं रहेगा। इस बुनियाद पर खड़ी सरकार लोगों के हित को जरूरी महत्त्व देगी, जिससे सच्चा स्वराज्य निर्माण हो जायगा।

राष्ट्रीकरण तभी हो सकता है, जब सच्ची सत्ता जनसाधारण के हाथों में हो। हमारी व्यवस्था की बुनियाद विस्तृत अनुभव की पुख्ता

बुनियाद होनी चाहिए। यह अनुभव तभी मिल सकता है, जब ग्रामीण अपनी जरूरतों को, अच्छी तरह से संगठित पंचायतों की मार्फत पूरी कर लेने के आदी हो गये हों। ऐसे अनुभवी लोगों में से जिले के अधिकारी चुने जायँगे और उन्हींमें से सूबे के लिए नेता और विधान-मण्डलों के सदस्य भी आयेंगे। इस प्रकार मजबूत बुनियाद पर संगठित सूबे की व्यवस्था को केन्दीय सरकार पर काफी अंकुश रखने की क्षमता हासिल होगी और ग्रामीणों के हित की बातों का अमल कराने लगाना उसके हाथ का खेल बन जायगा।

इस प्रकार जब आम जनता के हित को सर्वोपरि माननेवाले तपे हुए नेताओं के हाथों में राज्य की बागडोर रहेगी, तभी सच्ची राष्ट्रीय सरकार कायम हुई, ऐसा माना जा सकेगा और उस हालत में यदि राष्ट्रीकरण किया जाय, तभी आम जनता का हित सुरक्षित रह सकेगा।

जब तक ग्रामों पर अधिष्ठित और ग्रामीणों द्वारा नियन्त्रित केन्द्रीय सरकार कायम न होगी, तब तक राष्ट्रीकरण का मतलब होगा, मालदारों को गरीबों को अधिकाधिक चूसने का मौका देना।

उदाहरणार्थ, कुछ रोज पहले हिन्दुस्तान के हवाई जहाजों के रास्तों का राष्ट्रीकरण करने की बात बहुत जोरों से चल पड़ी थी। आज तो वे गरीब ग्रामीणों के बूते के बाहर हैं। उन्हें न तो कभी उनका उपयोग करने का मौका ही आयेगा और न उनकी उन्हें जरूरत ही है। आज तो वे केवल मालदारों की मिल्कियत हैं और वे ही उनका उपयोग भी करते हैं। इसलिए आज की हालत में हवाई रास्तों को सरकार द्वारा अपने अधिकार में ले लेने से सरकार अपना पैसा इन मालदारों के हित के लिए हवाई रास्तों पर खर्च करेगी, जिससे मालदारों को अधिक सुविधाएँ मिलेंगी और दूसरे मालदार हवाई जहाजों की कम्पनियाँ खोलकर उनसे फायदा उठायेंगे। सम्भव है कि नये हवाई अड्डे बनाये जायँ और उन तक पहुँचने के लिए नये रास्ते भी बनाने पड़ें। निजी कम्पनियाँ राष्ट्रीकरण के स्वांग के नीचे इनके लिए सरकारी पैसा खर्च

१२

करायेंगी। वास्तव में सरकार का पैसा जनसाधारण के फायदे के कामों में खर्च होना चाहिए; हवाई जहाजों के रास्ते दुरुस्त करने में नहीं लगाना चाहिए। निजी कम्पनियों को चाहिए कि वे अब तक की अपनी आवश्यकताएँ पूर्ववत् निजी खर्चे से ही पूरी करें। इसमें कुछ मालदार अन्य मालदारों को शायद चूस भी लें। ग्रामों पर अधिष्ठित और ग्रामीणों द्वारा नियन्त्रित राष्ट्रीय सरकार जब कायम होगी, तब हमें ऐसे कामों का राष्ट्रीकरण करना है या नहीं, इस पर विचार करने के लिए काफी समय मिल जायगा।

● ● ●

राष्ट्रीय उद्योग : ७ :

अब सवाल आता है कि उद्योगों का संघटन और उनका संचालन कैसे किया जाय। ऐसा करते समय अर्थशास्त्र के दो मूलभूत सिद्धान्त—सम्पत्ति का केन्द्रीकरण और उसका विकेन्द्रीकरण—अच्छी तरह समझ लेने चाहिए।

केन्द्रित व्यवसायों में सम्पत्ति का केन्द्रीकरण होता है। इनमें चन्द हाथों में सम्पत्ति केन्द्रित हो जाती है। केन्द्रीकरण सम्पत्ति या सत्ता का हो सकता है। विकेन्द्रीकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति विभाजन की ओर है, इसलिए यदि हमें अपने समाज में सम्पत्ति का केन्द्रीकरण टालना है, तो हमें केन्द्रित व्यवसायों को त्यागना होगा। हिन्दुस्तान सरीखे गरीब देश में सम्पत्ति का उचित विभाजन ही इष्ट है, इसलिए हमें विकेन्द्रित उद्योगों का ही अवलम्बन करना चाहिए।

प्रथम खूब धनोपार्जन करना और बाद में सरकार के जरिये उसका विभाजन करना, यह भी एक तरीका बताया जाता है। रूस आज इसी नीति का अवलम्बन कर रहा है, लेकिन धन के विभाजन का अधिकार केन्द्रित होना भी एक खतरनाक बात है। केन्द्रीकरण चाहे सम्पत्ति का हो या सत्ता का, दोनों ही बुरे हैं। अमेरिका और इंग्लैंड में धन केन्द्रित हो रहा है और रूस में धन के विभाजन का अधिकार केन्द्रित हो रहा है। हिन्दुस्तान एक गरीब देश है और उसमें धन का उत्पादन और वितरण साथ-ही-साथ होना चाहिए। इसलिए जहाँ रोजमर्रा के इस्तेमाल की चीजों के उत्पादन का सवाल हो, वहाँ केन्द्रित पद्धति को एकदम बन्द ही कर देना पड़ेगा।

केन्द्रित उद्योगों का स्थान—केन्द्रित उद्योग तभी चलाये जायँ, जब कि उनके चलानेवालों का उद्देश्य मुनाफाखोरी या धन इकट्ठा

करना न हो। केन्द्रित उद्योगों में धन केन्द्रित होने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उसे ही रोकना चाहिए। ऐसा करने का तरीका क्या है? ये सब उद्योग सेवा की दृष्टि से ही चलाये जाने चाहिए। विद्युत् उत्पादन, यातायात के साधन, डाकखाने आदि सब काम सेवाभाव से और निःस्वार्थी लोगों द्वारा संचालित सरकार के जरिये ही किये जाने चाहिए। यदि हमें मोटरों या हवाई जहाजों की जरूरत हो, तो सरकार को ही उन्हें बनाना चाहिए। सरकार द्वारा चलाये जानेवाले उद्योगों में अधिक खर्च होता है, ऐसी एक मान्यता है। पर यह अपव्यय स्वाभाविक मानकर क्षम्य समझना चाहिए। धन के केन्द्रीकरण में अधिक अपव्यय होता है। केन्द्रीय उद्योगों में धन और सत्ता केन्द्रित होने की प्रवृत्ति के कारण ही पिछले विश्वव्यापी महायुद्ध हुए। उनमें किस प्रकार पानी के समान पैसा बहाया गया, यह सभी लोग जानते हैं।

केवल लाचारी के रूप में केन्द्रीय उद्योग रखे जा सकते हैं। वे जहर सरीखे हैं। कभी-कभी जहर भी फायदेमन्द होते हैं, जैसे कि कुनैन। हकीम की देखभाल में थोड़ी-थोड़ी मात्रा में इस्तेमाल करने से कुनैन फायदा करती है। उस पर आप खतरे का निदर्शक लाल लेबल लगा देते हैं और थोड़ी-थोड़ी मात्रा में उसे इस्तेमाल करते हैं। उसी प्रकार यदि आप केन्द्रीय उद्योग, जो कि राष्ट्र के लिए जहर के समान हैं, रखना चाहते हैं, तो उन पर भी आप जहर का निदर्शक लाल लेबल लगा रखिये और हकीम के आदेशानुसार वख्त-जरूरत पर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में उसका सेवन करते जाइये। अन्यथा इसमें खतरा है। केन्द्रित उद्योग स्वभावतः समाज-विरोधी होते हैं। इसलिए उनके लिए कोई मर्यादा निश्चित करनी चाहिए। इसकी मर्यादा क्या हो सकती है? इसकी मर्यादा यही हो सकती है कि समाज को तो उसकी जरूरत हो, पर किसी व्यक्ति के हाथ में चले जाने से उसको ठेके (एकाधिकार) का स्वरूप मिल जाता हो। उदाहरणार्थ, पानी का इन्तजाम (water-supply)। यह काम हमेशा सरकार को ही करना चाहिए। जिन

कामों में दूरदृष्टि की जरूरत हो, ऐसे सब काम सरकार के ही जिम्मे रहने चाहिए।

लागत और लाभ—कई लोग सस्ते-महँगे की दृष्टि से भी विचार करते हैं। उनका कहना है कि केन्द्रित उद्योगों में खर्च कम लगता है और चीजें सस्ती बनती हैं। लेकिन यह हमेशा सही नहीं होता। लोकोपयोगी कामों के लिए उदाहरणार्थ रेलवे, पोस्ट, टेलिग्राफ, बिजली, नहरें आदि, जो स्वभावतः एकाधिकार की अपेक्षा करते हैं, यदि केन्द्रित ढंग पर सेवाभाव से चलाये जायँ, तो उनमें कोई आपत्ति नहीं। जब स्वयं सरकार ऐसे उद्योग चलाती है, तब उनमें मुनाफाखोरी को कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। व्यक्तिगत व्यवहारों में लाभ उठाने की प्रवृत्ति ज्यादा होती है। खर्च ज्यादा हो, तो फायदा कम और खर्च कम हो, तो फायदा अधिक होता है। इसलिए व्यक्तिगत व्यवहारों में खर्च घटाने की प्रवृत्ति ज्यादा रहती है और खर्चा घटाने का सबसे आसान तरीका याने नौकरों के वेतन में कटौती करना, कच्चा माल सस्ते दामों में खरीदने की कोशिश करना और व्यवस्था-खर्च यथासम्भव घटाना है। इससे केन्द्रित उद्योग का संगठन करनेवाला धनवान् हो जाता है और उसे कच्चा माल देनेवाले और उसके मजदूर गरीब होते जाते हैं। इस प्रकार संपत्ति का असमान विभाजन शुरू हो जाता है।

ग्राम-उद्योगों में ऐसा नहीं होने पाता। कीमत थोड़ी ज्यादा होने पर भी उनमें मुनाफाखोरी का उद्देश्य नहीं होता। हरएक को योग्य मुआवजा मिलता रहता है। इसीलिए ग्रामोद्योगी चीजों की कीमतें थोड़ी ऊँची और केंद्रित उद्योगों की चीजों की कीमतें कुछ कम रहने पर भी हमें चिंता नहीं करनी चाहिए। हम केवल संपत्ति का असमान विभाजन रोकना चाहते हैं।

कीमतों पर कंट्रोल—वस्तुओं की उचित कीमत तय करने के पहले उद्योग किस प्रकार का है, यह देखना चाहिए। छोटे और बड़े पैमाने पर चलनेवाले उद्योगों को एक ही दृष्टि से देखना गलत होगा।

सभी वस्तुओं पर कंट्रोल करना इष्ट नहीं है। यदि कोई उद्योग समाज-हित-विरोधी है, तो वह केंद्रित नहीं होना चाहिए। इस प्रकार केंद्रित उद्योग चलाना है या नहीं, इसकी कसौटी है उसकी समाज-हित-विरोध की प्रवृत्ति।

जैसा कि हम पहले कह आये हैं, जिन उद्योगों में एकाधिकार होना जरूरी है और जिनमें बहुत अधिक पूँजी लगती हो, वे केन्द्रित ही रहें, तो अच्छा है। उदाहरणार्थ, कोयले की खानें, रेलवे और तत्सम व्यवसाय, इनमें क्या पूँजी, क्या मजदूर और क्या अन्य चीजें, सभी बहुत बड़े पैमाने पर लगती हैं। ऐसे उद्योग कभी व्यक्तियों के हाथों में नहीं सौंपने चाहिए; बल्कि उन्हें सरकारी तौर पर ही चलाना चाहिए।

उद्योगों में लोकशाही—प्रजातन्त्र-शासित देश में समाज-विघातक प्रवृत्तियों को स्थान नहीं होना चाहिए। कपड़े की मिलें प्रजातन्त्र के उसूलों के खिलाफ हैं। वहाँ मिल का मालिक बादशाह होता है और हजारों आदमियों को उसके इशारों पर चलना पड़ता है। इस राजनीतिक दृष्टि से भी इस तरह के केन्द्रित उद्योग अनिष्ट हैं।

देश की समाज-व्यवस्था सहयोग पर अधिष्ठित होनी चाहिए। स्पर्धा का अर्थ है जंगल का कायदा। उसे हम अपने देश में नहीं चाहते। हम तो चाहते हैं कि सहयोग शुरू करें, स्पर्धा को हटायें। केवल कीमतों पर नियन्त्रण रखकर हम स्पर्धा नहीं हटा सकते।

जिस प्रकार रोग की परीक्षा के बाद वैद्य यह तय करता है कि रोगी को दवा के बतौर जहर थोड़ी मात्रा में खिलाना है या नहीं, उसी प्रकार उद्योग की अच्छी तरह जाँच कर लेने पर ही यह तय होना चाहिए कि उसे केन्द्रित करना है या नहीं।

जब हम केन्द्रित उद्योगों को त्याज्य करार देते हैं, तब हम यन्त्रों के भी विरुद्ध हैं, ऐसा नहीं मानना चाहिए। हम चाहते हैं कि मनुष्य यन्त्र का गुलाम न बने। जब मनुष्य का यन्त्र पर नियन्त्रण नहीं रह पाता, तब हिंसा निर्माण होती है।

हिंसा और शान्ति—अर्थशास्त्र की पाठ्य-पुस्तकों में माँग और पूर्ति के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा रहता है, पर प्रत्यक्ष व्यवहार में इनका कोई अस्तित्व ही नहीं दिखाई देता। यन्त्र से अधिक-से-अधिक उत्पादन कर लेनेपर ही यन्त्र रखना लाभजनक हो सकता है। उदाहरणार्थ, एक जूते का कारखानेदार, यह जानते हुए भी कि केवल ३०० जोड़ी जूतों की ही माँग है, ५०० जोड़ी जूते तैयार करता है; क्योंकि उनकी बनवाई का खर्च कम पड़ता है। वह अपने मुनाफे को मद्देनजर रखकर, उत्पादन-खर्च कम-से-कम रखने की कोशिश में, अधिक जोड़ी जूते बना डालता है। माँग की बनिस्बत ज्यादा जूते बनाने के पश्चात् वह उन्हें खपाने की फिक्र में पड़ता है। इसका मतलब यह हुआ कि उपर्युक्त कारखानेवाला अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार नहीं चलता, बल्कि अपनी मशीन की ताकत के अनुसार चलता है। इस प्रकार अतिरिक्त पैदावार की खपत के लिए बाजार ढूँढ़ने और ग्राहक प्राप्त करने के लिए लड़ाइयाँ शुरू कर दी जाती हैं। अर्थात् पहले हम उत्पादन कर बैठते हैं और बाद में संगीन की सहायता से उसे खपाने की कोशिश शुरू करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि लड़ाइयों की जड़ केन्द्रित उद्योग ही हैं। और इसलिए उन पर कुछ विवेकपूर्ण प्रतिबंध लगाने जरूरी हैं।

चमड़ा पकाने सरीखे उद्योगों में कुछ प्रक्रियाएँ ऐसी हैं, जो बड़े पैमाने पर करनी पड़ती हैं। ऐसे मौकों पर बड़े पैमानों का उपयोग जरूर करना चाहिए, पर किसी व्यक्ति की हुकूमत के नीचे नहीं। यदि क्रोम का चमड़ा बनवाना हो, तो उसे विविध उद्देश्यों की सहकारी समिति की मार्फत चमार को लागत कीमत पर चमड़ा देने की दृष्टि से बनवाना चाहिए।

इसी प्रकार अन्य कई उद्योग ऐसे हैं जो व्यक्तिगत रूप से या छोटे पैमाने पर नहीं किये जा सकते। उदाहरणार्थ, १६०० डिग्री ऊष्णतामान देनेवाली भट्ठी तैयार करनी हो, तो उसके लिए काफी पैसा लगेगा और शायद बिजली की भी जरूरत पड़े। हम अपनी क्रियाओं के लिए बिजली और अन्य शक्ति के साधन भी इस्तेमाल कर सकते हैं, सिर्फ उनमें मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। उन्हें समाज के शोषण का एक जरिया नहीं बनने देना चाहिए। ● ● ●

सरकार के कार्य   : ८ :

जैसा कि पहले दिखाया गया है, मानव-समाज की हरएक प्रवृत्ति के दो दृष्टिकोण हुआ करते हैं—दीर्घ दृष्टिवाले और लघु दृष्टिवाले। हरएक व्यक्ति यही चाहता है कि उसे कार्य का फल तुरंत मिले। उसकी दिलचस्पी ऐसे किसी कार्य में नहीं रहती, जिसके द्वारा उसके बाद आनेवाले लोगों का लाभ हो। वह निकट भविष्य के कम लाभ से भी संतुष्ट होगा, पर सुदूर भविष्य में मिलनेवाले बड़े लाभवाले काम करने को तैयार न होगा। इसलिए संपूर्ण मानव-समाज की भलाई की दृष्टि से यह आवश्यक हो जाता है कि कुछ लोगों के जिम्मे ऐसी बातों पर विचार करने और उन पर अमल करने का काम दिया जाय, जिनका लाभ टिकाऊ; पर अधिक दिनों के बाद मिलनेवाला हो। राष्ट्रीय सरकार का यही तो काम है।

दूसरी बात यह भी है कि कुछ आवश्यक कार्य करना एक मामूली नागरिक के बूते के बाहर होता है। इसलिए ऐसे सब कार्य, जिनमें कार्यकर्ता और साधन इफरात में होने जरूरी हैं, सरकार के जिम्मे पड़ते हैं। अनुसंधान, प्रयोग और समाचार-वितरण का कार्य अकेला किसान या कारीगर नहीं कर सकता। वह उसकी ताकत के बाहर का काम है।

जनता का सारा जोश, बुद्धि और साधन, जो अब तक कारखानों में बनी चीजों की उन्नति करने में व्यय हुए हैं, अब ग्रामोद्योगों के आधार पर ग्रामों को स्वावलम्बी बनाने की ओर लगाये जायँ, तो अधिक उपयुक्त होगा। यदि पूरा प्रयत्न किया जाय, तो ग्रामीणों के सामने आनेवाली तमाम अड़चनें यथाशीघ्र हटायी जा सकती हैं।

सिंचाई—तमाम ग्रामों में सिंचाई का प्रबन्ध होना चाहिए। इस पर जितना जोर दिया जाय, उतना कम ही है। इसी पर खेती का सारा दारोमदार रहता है। सिंचाई की व्यवस्था बिना खेती एक सट्टा-सा हो

जाती है। इसलिए कुएँ खुदवाने की, तालाब खुदवाने और साफ कराने और नहरें खुदवाने की एक बाकायदा मुहिम शुरू कर देना निहायत जरूरी है। आज चावल और आटे की मिलों में जो इंजन चल रहे हैं, उन्हें प्राप्त कर सरकार को चाहिए कि वे कुओं का पानी उठाने में लगाये जायँ। पानी का अच्छा इन्तजाम रहे बिना खाद की कोई व्यवस्था नहीं की जा सकती, क्योंकि पानी के बिना खाद नुकसान पहुँचाती है।

जमीन की व्यवस्था—काश्त की जमीन का परिमाण और उसकी किस्म सुधारनी चाहिए। किस्म सुधारने के लिए जमीन का कटाव रोकना चाहिए और उसमें यदि कहीं पानी जमा रहता हो, तो उसे कहीं मेड़ें फोड़-कर और दूसरी आवश्यक जगहों पर नयी मेड़ें बाँधकर निकाल देना चाहिए। अन्ततोगत्वा जमीन का उपजाऊपन ही असली जड़ है, जिस पर क्या आदमी और क्या जानवर, सभी का पोषण टिका हुआ है। यदि जमीन की किस्म गिर जाती है, तो उसमें पैदा होनेवाला अन्न भी कम पोषक तत्त्वयुक्त होगा और वहाँ के आदमी तथा मवेशी दोनों का स्वास्थ्य गिरा हुआ होगा। इसी कारण से पोषक शास्त्रज्ञ स्वास्थ्य और कृषि का घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ते हैं।

बिहार और अन्य कई जगहों पर अधिक भावों की लालच दिखाकर लोगों को खुराक की चीजों की काश्त छोड़कर गन्ना, तंबाकू और लंबे रेशेवाली कपास की खेती करने के लिए उद्यत किया गया है। उसी प्रकार मलाबार में भी पहले धान के खेतवाले बड़े-बड़े हिस्सों में अब केवल नारियल के ही झाड़ दिखाई देते हैं। इनके नारियल तेल की मिलों को बेच दिये जाते हैं और वहाँ उनके तेल से साबुन बनता है। उन जमीनों के मालिकों को अब पहले जैसा अपने खेत में पका हाथ-कुटा चावल नहीं मिलता। उन्हें ब्राजील से आनेवाले सफेद चावल पर अवलम्बित रहना पड़ता है और यही कारण है कि उनका स्वास्थ्य दिनोंदिन गिर रहा है। सरकार का यह कर्तव्य है कि वह देखे कि प्राप्य जमीन का बुनियादी चीजों की काश्त करने के लिए प्रथम उपयोग किया जाय। खुराक और

कपड़े की जरूरतें पूरी होने के बाद यदि अतिरिक्त जमीन बच रहती है, तो उसमें भले ही तिजारती फसलें बोयी जा सकती हैं। ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं, उनसे सरकारी कर्तव्यभ्रष्टता स्पष्ट दिखाई देती है, क्योंकि ऐसे समय में, जब कि जनता खुराक के लिए मुहताज है, उसने चावल की काश्त होनेवाली जमीन को मानो साबुन की खेतीवाली बनने दिया।

किस जमीन में किस चीज की काश्त करनी चाहिए, यह योजना-पूर्वक निश्चित किया जाना चाहिए और हरएक चीज की काश्त का लाइसेंस दिया जाना चाहिए।

अनुसंधान—खेती की सारी खोज इस दृष्टिकोण से की जानी चाहिए कि अन्न और ग्रामोद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे माल के उत्पादन में तरक्की हो। तम्बाकू जैसी व्यापारिक फसलें और फैक्टरियों के लिए मोटे छिलके के गन्ने और लम्बे रेशे की कपास आदि के ऊपर अनुसन्धान न किया जाय।

किराये की दरें और यातायात में प्राथमिकता—इस समय प्राथमिकता (प्रायॅरिटी) और किरायों की पक्षपातपूर्ण दरें फैक्टरी के बने माल के लिए दी जाती हैं। ग्रामोद्योग की बनी चीजें, जैसे हाथ का बना कागज, ग्रामोद्योग का सरंजाम, वनस्पतिजन्य तेल से जलनेवाली लालटेनें आदि को तो रेल पर कोई पूछता ही नहीं। इससे इन उद्योगों की हालत दिन पर दिन खराब होती जाती है और उन्हें बड़ी परेशानी उठानी पड़ती है। रेलवे की इस नीति से लड़ाई के जमाने में जिनका विकास सम्भव था, ऐसे कई ग्रामोद्योगों को काफी धक्का पहुँचा है। अन्य सब बातों के साथ ही साथ इस रेल के मामले में भी दृष्टिकोण बदलना होगा और ग्रामोद्योगों की भलाई ध्यान में रखकर नीति बनानी होगी। ग्रामोद्योगों की बनी वस्तुओं पर चुंगी और म्युनिसिपल कर आदि भी नहीं लगने चाहिए।

पशुओं की नस्ल में सुधार—पशुओं की नस्ल सुधारने की विस्तृत योजना सरकार को बनानी चाहिए और काम शुरू कर देना

चाहिए। यदि किसी सूबे में किसी खास किस्म की उपयुक्त नस्ल हो, तो उसे संरक्षण देना चाहिए और उसमें उन्नति करने की कोशिश करनी चाहिए। जहाँ जरूरत हो, वहाँ एक अच्छा साँड़ पैसा देकर भी रखना चाहिए। सामान्यतः यह सब काम गो-सेवा-संघ, वर्धा, बम्बई प्रदेश की नीति के अनुसार चले।

रास्ते, वाहन आदि—ग्रामों में मोटरों के लिए जो सड़कें हों, वे कोलतार (अलकतरे) की होनी चाहिए और उनके बनाने का खर्चा मोटर मालिकों को सहना चाहिए। मोटर के लाइसेंस और टैक्स तथा पेट्रोल टैक्स इस हिसाब से लगाने चाहिए कि ऐसी सड़कें बनाने और उनकी मरम्मत का सारा खर्चा मोटर मालिकों पर ही पड़े। कच्ची सड़कों पर मोटरों को मुमानियत होनी चाहिए। कभी खास इजाजत से ही वे उन सड़कों पर जा सकेंगी और वह भी इस प्रतिबन्ध पर कि उनकी गति फी घण्टा ५ मील से अधिक न हो।

सरकार को अपनी जंगल सम्बन्धी नीति में आमूल संशोधन करना पड़ेगा। जंगलों की व्यवस्था आमदनी को मद्देनजर रखकर नहीं, बल्कि लोगों की जरूरतों को खयाल में रखकर करनी चाहिए। जंगल की पैदावार जैसे इमारती लकड़ी, चपड़ा वगैरह इस्तेमाल किये जाने की हालत में लोगों को मिलनी चाहिए। इमारती लकड़ी जंगल में ही पक्की होने देनी चाहिए। जंगल के आसपास के ग्रामीणों की जरूरतों को देखकर उस जंगल की नीति तय करनी चाहिए। आम तौर से जंगल के दो वर्ग करने चाहिए : (१) दूर दृष्टि से लोगों को इमारती लकड़ी देनेवाले और (२) ईंधन और घास मुफ्त या नाममात्र कीमत पर देनेवाले। ताड़-गुड़, कुम्हार का काम, हाथ-कागज का काम आदि कई ग्रामोद्योग ऐसे हैं, जो सस्ता ईंधन या घास मिलने पर ही पनप सकते हैं।

शिक्षण-केन्द्र—सूबे का (अच्छा हो कि भाषा के हिसाब से) एक शिक्षण-केन्द्र होना चाहिए, जो नीचे दिये हुए कार्य करे—

(१) जिलों के प्रदर्शन-केन्द्रों के सहयोग से ऐसे ग्रामोद्योगों की कला और पद्धति में अनुसन्धान करे, जो कि उस प्रान्त में हो सकते हों।

(२) ग्रामोद्योगों पर स्थानीय भाषाओं में साहित्य तैयार करे।

(३) ग्रामोद्योग प्रदर्शनियाँ कराये।

(४) एक सरंजाम कार्यालय चलाये, जहाँ गाँवों में न बन सकनेवाले सरंजाम (सामान) जैसे बैल से चलनेवाली आटा चक्की, धान अलग करने की मशीन, चीनी बनाने का यन्त्र, कागज के लिए बीटर, डायजेस्टर, कैलेण्डर, स्क्रू प्रेस, फिल्टर प्रेस आदि बनाये जा सकें।

(५) ऐसे ग्रामसेवकों को शिक्षा दे, जो जिले के प्रदर्शन-केन्द्रों या सहयोग समितियों में काम कर सकें।

जीवन-शिक्षण : ९ :

सब जगह घूमा-फिराकर अन्त में हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि सब सवाल शिक्षण से सम्बन्धित रहते हैं। यदि लोगों को हम एक सर्व-सामान्य दृष्टिकोण से जीवन की ओर देखने का शिक्षण दें, तो हम सारी दिक्कतों का हल ढूँढ़ सकेंगे। शिक्षण एक ऐसी मुख्य कुंजी है, जिससे जीवन के हरएक विभाग का ताला खोला जा सकता है।

शिक्षण का अर्थ—यदि शिक्षण देना याने मनुष्य को जीवन के योग्य बनाना है—सुयोग्य नागरिक, सुयोग्य पति और सुयोग्य पिता बनाना है—तो उस शिक्षण की क्रिया मनुष्य के जन्म से उसकी मृत्यु तक जारी ही रहती है। जीवन में कैसे भी उल्टे-सीधे मौके आयें, तो भी मनुष्य में न्यूनतम आघात सहते हुए समय काट लेने की क्षमता होनी चाहिए। पर यदि शिक्षण से हम किसी खास परिस्थिति से ही लोहा लेना सीखें, तो उसके अलावा कोई दूसरी परिस्थिति का सामना करते समय हम घबरा जायँगे। शिक्षण याने केवल तवारीख रटकर मन को संकुचित बनाना नहीं है, बल्कि एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि प्राप्त करना है।

किसी भी शिक्षण-पद्धति के पीछे उसका अपना तत्त्वज्ञान होना चाहिए और उससे मनुष्य का पूर्ण विकास होना चाहिए। इसलिए शिक्षण की जिम्मेवारी एक बहुत बड़ी जिम्मेवारी है और उसमें काफी खतरे रहते हैं; इसलिए पूर्ण विचार और पूरी तैयारी किये बिना कोई भी योजना नहीं स्वीकार करनी चाहिए।

बदनसीबी से आमतौर से लिखना, पढ़ना आना ही शिक्षित होना माना जाता है। इससे अधिक विपर्यस्त दूसरी कल्पना ही नहीं हो सकती। लिखना-पढ़ना संस्कृति बनाने के जरिये हैं सही, पर वे ही एकमात्र जरिये हैं, ऐसा नहीं है और न वे जरिये सबसे ज्यादा महत्त्व के ही हैं।

ध्येयपूर्ण शिक्षण—करीब-करीब सभी देशों की शिक्षण-पद्धति

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
BANGALORE-1.

किसी खास ध्येयपूर्ति की दृष्टि से निश्चित की जाती है। पूँजीवादी देशों में बड़े-बड़े उद्योगपति शिक्षण-पद्धति से अपने लिए आवश्यक व्यवस्थापक और कार्यकर्ता प्राप्त करने की ख्वाहिश रखते हैं। समाजवादी देशों में शिक्षण-पद्धति से भौतिक उत्पादन बढ़ाने की कोशिश की जाती है। फौजी प्रवृत्तिवाले देशों में शिक्षण का अर्थ लोगों में संकुचित देश-प्रेम निर्माण करने का जरिया है।

पूरब की पद्धति—हमारे देश की पुरानी शिक्षण-पद्धति विद्यार्थी को जीवन-कलह में टिके रहना सिखाती थी। विद्यार्थी अपना गुरु चुन लेता था और उसीके साथ दिन-रात रहकर अपने गुरु की विद्या अपना लेता था। यह केवल आध्यात्मिक बातों के लिए ही नहीं, बल्कि जीवन के हर पहलू के लिए लागू था। जिस प्रकार कोई बाप अपने बच्चे की परवरिश करना अपना कोई पेशा नहीं समझता, उसी प्रकार उस समय के गुरु भी शिक्षण देना अपना पेशा नहीं मानते थे। वे तो अपना संयत जीवनक्रम चलाते रहते, और उसीसे उनके जीवन का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता था, और विद्यार्थी जो कुछ सीखना चाहते या सीख सकते थे, वह उनके नित्य जीवनक्रम से आप ही आप सीख लेते। जब ईसामसीह ने अपने चेले चुने, तब उन्होंने उन्हें सिर्फ यही कहा कि मेरा अनुकरण करो। उन्होंने पाठ्य-पुस्तकों की कोई सूची अपने चेलों को नहीं दी। उन्हें अपने गुरु का अनुकरण करना पड़ता था। यह है हमारी पूरब की पद्धति।

सच्ची आर्थिक कीमत—पाश्चात्य लोगों के संपर्क में आने से हम सुवर्ण के पुजारी बन गये। अब सांस्कृतिक मूल्यों की जगह रुपये, आने, पाई आ गये हैं। अब हम मानव को भूलकर सोना या पैसे का खयाल अधिक रखने लगे हैं। पहले की ब्राह्मण-पद्धति का मूल्यांकन समाप्त होकर अब पश्चिम का व्यापारिक मूल्यांकन आ गया है। पहले ब्राह्मण का आदर इसलिए नहीं होता था कि उसके पास बहुत पैसा होता था, बल्कि इसलिए होता था कि वह सदा निरपेक्ष भाव से लोगों की सेवा करने के लिए तत्पर रहता था। यदि किसी शिक्षण-पद्धति में आवश्यक बातों को

पहला स्थान नहीं दिया जाता, तो वह हमारे काम की नहीं। जनसाधारण को शिक्षित करने का मतलब है उनमें सच्चे आर्थिक, सामाजिक और साम्पत्तिक का मूल्यों को समझने की क्षमता निर्माण करना।

जीवन के विभिन्न पहलू—मनुष्य एक पेचीदा जीव है। उसके अलग-अलग हिस्से नहीं किये जा सकते और अलग-अलग हिस्से का अलग-अलग विकास नहीं किया जा सकता। जो शिक्षण-पद्धति केवल बौद्धिक विकास का ही खयाल करती है और शारीरिक, नैतिक, आध्यात्मिक विकास की ओर ध्यान नहीं देती, वह राक्षस पैदा करती है। यदि हमें सच्ची शिक्षा देनी है, तो हमें इन सारी बातों के विकास की ओर ध्यान देना चाहिए। हमें मनुष्य का शारीरिक, सामाजिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास करना है। उसे कोई एक व्यवसाय सीखना चाहिए। समाज के एक घटक के तौर पर अपना जीवन कैसे बिताना है, इसका उसे ज्ञान होना चाहिए और प्रसंगों का ठीक-ठीक मूल्यांकन कर सकने की क्षमता उसमें आनी चाहिए। यदि ये सब बातें हम नहीं कर सकते हैं, तो हमारा शिक्षण बेकार है।

हमारी कोई भी क्रिया ऐसी नहीं है, जिसकी हम पर कोई अमिट छाप न पड़ती हो। हमारा काम, हमारे खेल, हमारे मनोरंजन के साधन और हमारा आराम, इन सबकी खूब सोच-विचार के बाद योजना बनानी चाहिए; तभी उनका समाज पर अच्छा असर पड़ेगा। किसी काम की ट्रेनिंग में ही काम करनेवाले के जीवन का बहुत-सा हिस्सा व्यतीत होता है। पर हम अपना बहुत समय केवल अपने आर्थिक कार्यों (व्यवसाय) में ही व्यतीत करते हैं। यदि ऐसी व्यवस्था की जाय कि चीजों का उत्पादन करते-करते हमारी शक्तियों का विकास भी होता रहे और जीवन अधिक समृद्ध बनता जाय, तो कितना अच्छा होगा। उचित काम करते-करते राष्ट्र को थकावट नहीं महसूस होगी, बल्कि वह (राष्ट्र) बनता रहेगा। काम का मकसद यह होना चाहिए कि वह हमारे जीवन के ध्येय को कार्यान्वित करे। केवल आडम्बरयुक्त पूजा सच्चा धर्म नहीं है।

उसका हमारी हरएक कृति पर, हमारे जीवन के हरएक क्षण पर असर दिखाई देना चाहिए और यदि ऐसा नहीं होता है, तो वह धर्म बेकार है। काम के परिच्छेद में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार काम के हिस्से होते हैं और किस प्रकार काम की बदौलत व्यक्ति और समूचे समाज की उन्नति होती रहती है। यदि सयानों की उन्नति में काम इतना कारगर हो सकता है, तो हम बच्चों के विकास के लिए उसका बखूबी उपयोग कर सकते हैं।

हमें अपनी सारी शक्ति ग्रामों पर केन्द्रित करनी है। कुछ समय के लिए हम यदि विश्वविद्यालय का शिक्षण बन्द भी कर दें, तो उससे राष्ट्र का कोई नुकसान न होगा। आज तो हालत यह है कि हमारे पास जरूरत से ज्यादा ग्रेजुएट मौजूद हैं। इसलिए उनके कारण हमारे सामने बेकारी की समस्या आ खड़ी हुई है, क्योंकि हमें जिस किस्म की शिक्षा पाये हुए आदमी चाहिए, उस क़िस्म की शिक्षा उन्हें नहीं मिली है। अन्यथा उनका कोई न-कोई उपयोग कर लेना मुश्किल न होता। हमारा ध्येय यह होना चाहिए कि हमारे ग्रामीण अधिक उपयुक्त और कार्यक्षम हों। बाहरी-ऊपर की जानकारी उनमें ठूँस-ठूँसकर भरने की जरूरत नहीं। रेडियो और सिनेमा ग्रामीणों की शिक्षा में सहायक भले ही हों, पर वे उसके प्रमुख साधन नहीं बन सकते। उन पर खर्च की जानेवाली रकम अनुपात से अधिक है। शिक्षा का कार्य ग्राम में से स्वयं विकसित होना चाहिए, वह उस पर बाहर से लादा न जाना चाहिए। बाहर से यदि हम कुछ भी लादने की कोशिश करेंगे, तो उसे टिकाये रखने के लिए कुछ कृत्रिम आधार तो निर्माण करने ही पड़ेंगे। पर जो चीज आप ही आप अंदर से पैदा होगी, उससे सच्ची संस्कृति निर्माण होगी, जिससे मनुष्य मनुष्य से और गाँव गाँव से बँध जायगा और अन्ततोगत्वा सारा देश अच्छी तरह से एक सूत्र में आबद्ध हो जायगा।

इसके लिए संगठन निर्माण करने पर जोर देने की जरूरत नहीं। यदि हम संगठन पर ही जोर देते हैं, तो हम व्यक्तिगत प्रभाव पर विचार

नहीं करते हैं, जिससे संगठन कई बार भाररूप और खर्चीला हो जाता है। शिक्षण में भी केन्द्रीकरण करने से सुदूरस्थित लोगों का बहुत ज्यादा नियंत्रण आ जाता है और उससे सब जगह एक ही किस्म का अनुशासन और एक-सी पद्धतियाँ आ जाती हैं, जो सच्ची शिक्षा के लिए मारक हैं। ग्राम के शिक्षक को अपने पड़ोसियों की देखभाल के नीचे काम करना ज्यादा अच्छा है। उस दृष्टि से हरएक गाँववाले अपनी-अपनी शिक्षा का खर्चा पुरानी पद्धति के अनुसार पाठशालाओं को जमीनें दे देकर चलायें, तो बहुत अच्छा हो। इस प्रकार चलनेवाली पाठशालाओं के निरीक्षण उस स्थान के कुछ आदमी स्वयं करें, तो बहुत अच्छा होगा; क्योंकि उसकी व्यवस्था भी स्थानिक लोगों के हाथों में ही रहेगी। आज की पद्धति में साल में एक बार कभी तो इन्स्पेक्टर आकर मुआयना कर जाता है और उस समय यदि शिक्षक उसे सन्तुष्ट कर सका, तो फिर बाकी समय वह ढील दे देता है। इससे न तो प्रगति ही होती है और न एक-सा काम ही होता है। गाँव की हरएक पाठशाला उसकी संस्कृति का केन्द्र होना चाहिए और उसीके जरिये गाँव का बाहरी दुनिया से सम्बन्ध होना चाहिए। इस प्रकार की व्यवस्था में एक ही खतरा रहता है, और वह यह है कि शिक्षक सामाजिक कार्यक्रमों को ज्यादा महत्त्व देकर उनमें ही अपना सारा समय व्यतीत कर दें और बच्चों की शिक्षा के असली कर्तव्य की उपेक्षा करें। उपयुक्त सामाजिक हलचल शिक्षा के साथ ही साथ की जानेवाली चीज है, पाठशाला का मुख्य ध्येय नहीं है। मनुष्य-स्वभाव में और अपने खुद में श्रद्धा रखकर अपने ध्येय की ओर हमें अग्रसर होना चाहिए। सम्भव है कि छोटे-मोटे विवरण में मतभेद हो, पर इतनी बात तय है कि हम सच्ची संस्कृति निर्माण करने, मूल्यांकन के सच्चे पैमाने कायम करने और ऊपर-ऊपर से दिखाई देनेवाली विभिन्नता के बावजूद सच्ची एकता निर्माण करने का ध्येय प्राप्त कर लेंगे।

सुझायी हुई योजना—इधर हाल में सच्ची शिक्षा किस प्रकार देनी

चाहिए, इसके बारे में काफी चर्चा चली हुई है। गांधीजी का सुझाव है कि शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए। उन्होंने लिखा है कि "शिक्षा से मेरा मतलब है बच्चे या मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और नैतिक उन्नति। केवल लिख-पढ़ लेना शिक्षा नहीं है और न उसका श्रीगणेश ही है। किसी भी पुरुष या स्त्री को शिक्षित बनाने का वह एक जरिया ही है। केवल लिख-पढ़ सकना यह कोई शिक्षा नहीं है। इसलिए मैं बच्चे की शिक्षा की शुरुआत उसे कोई उपयुक्त उद्योग सिखाकर करूँगा, ताकि शिक्षा की शुरुआत से ही वह कोई-न-कोई नयी चीज या चीजें निर्माण कर सके। इस प्रकार सारी पाठशालाएँ स्वावलम्बी बन सकती हैं, बशर्ते कि सरकार इन पाठशालाओं की बनी चीजें खरीद ले।

"मेरी ऐसी धारणा है कि इस पद्धति की शिक्षा में मन और आत्मा का अधिक-से-अधिक विकास हो सकता है। सिर्फ शर्त यही है कि हरएक उद्योग शास्त्रीय ढंग से सिखाया जाय, न कि यान्त्रिक ढंग से, जैसा आजकल किया जाता है। अर्थात् विद्यार्थी को हरएक चीज का कार्य-कारण भाव समझाया जाना चाहिए। मैं यह बात कुछ निश्चयपूर्वक इसलिए कह सकता हूँ, क्योंकि उसके पीछे मेरा अनुभव है। जहाँ कहीं कार्यकर्ताओं को कताई सिखायी जाती है, वहाँ यह पद्धति करीब-करीब पूर्ण रूप से अमल में लायी जा रही है। मैंने स्वयं चप्पल बनाना और सूत कातना इसी पद्धति से सिखाया है और उसका नतीजा अच्छा निकला है। इस पद्धति में इतिहास और भूगोल का बहिष्कार नहीं किया जाता; पर मेरा अपना अनुभव है कि इस किस्म का सामान्य ज्ञान मुँह-जबानी ही अच्छी तरह दिया जा सकता है। इस पद्धति से जो ज्ञान होता है, वह पढ़ने और लिखने के ज्ञान से करीब दसगुना होता है। बच्चे को अक्षर-ज्ञान तभी कराया जाय, जब, उसमें अच्छे-बुरे की भावना निर्माण हो। यह एक क्रांतिकारी योजना है इसमें कोई शक नहीं; इस पद्धति में मेहनत की बहुत बचत होती है और एक साल में इतना ज्ञान हासिल होता है, जितना दूसरे तरीके से हासिल करने में काफी समय लग जायगा।

इसका मतलब हुआ कि समय, पैसे और मेहनत आदि में बचत होती है। अर्थात् उद्योग सीखते-सीखते ही वह गणित भी सीखता है।

"विद्यार्थी की प्रारम्भिक शिक्षा को मैं बहुत महत्त्व देता हूँ और मैं मानता हूँ कि वह आज के मॅट्रिक के समकक्ष (अंग्रेजी छोड़कर) होनी चाहिए। आज यदि कॉलेजों में जानेवाले विद्यार्थी अपना सारा ज्ञान भूल जायँ, तो इन कुछ लाख विद्यार्थियों की स्मृति नष्ट होने से देश का उतना नुकसान न होगा, जितना अपने देश की तीस करोड़ जनता के अज्ञानरूपी सागर में डूबे रहने से हुआ है और हो रहा है। करोड़ों देहातियों के अज्ञान का कोई ठिकाना नहीं है।"

बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा कभी स्वावलंबी नहीं हो सकेगी। वे जो चीजें निर्माण करेंगे, उन्हें पैसे देकर खरीदने के लिए कोई राजी न होगा। यदि उन्हें सरकार खरीद ले, तो हमारा नुकसान सरकार ने उठाया, इतना ही उसका मतलब होगा। उस हालत में शिक्षा स्वावलम्बी हुई, ऐसा मानना आत्मवंचना ही होगा। जब गांधीजी कहते हैं कि शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए, तब उसका यह मतलब हर्गिज नहीं है कि हर साल की विद्यार्थी की कमाई से उसकी शिक्षा का खर्च निभ जाय। यह तो बहुत संकुचित आर्थिक विचार हुआ और वह कभी कामयाब नहीं हो सकता। उनका मतलब बहुत विशाल है। वे केवल विद्यार्थी द्वारा बनायी हुई चीजों की रुपया, आना, पाई में ही कीमत नहीं कूतते, बल्कि उसके सुयोग्य और सुशिक्षित नागरिक बनने की हालत में देश को जो लाभ होगा, उसको भी वे हिसाब में रखते हैं। फिलहाल देहाती स्कूल में लिखने-पढ़ने और हिसाब-किताब आदि की जो कसरत करायी जाती है, उसकी बुनियाद इतनी कमजोर होती है कि स्कूल छोड़ने के कुछ ही साल बाद वह सब ज्ञान बिलकुल साफ हो जाता है और विद्यार्थी फिर अक्षर-शत्रु-सा बन जाता है। अर्थात् उसे पढ़ाने में जो समय, मेहनत और पैसा खर्च होता है, वह बेकार-सा हो जाता है। पर यदि वही समय और पैसा उचित रीति से इस्तेमाल किया जाय, तो कक्षा में जो चीजें

बनेंगी, वे सम्भव है कि हर साल का अपना खर्च न निकाल सकें; पर पूरे सात साल के शिक्षा-काल में वह कक्षा जो-जो चीजें बनायेगी, उनसे उसके शिक्षकों का वेतन तो अवश्य निकलना चाहिए। पहले दो सालों में नुकसान रहेगा, बाद के तीन साल सम्भव है कि बराबरी पर रहें, पर अन्त के दो वर्षों में इतना मुनाफा होना चाहिए कि पहले दो वर्षों का नुकसान पूरा हो जाय। क्षणभर के लिए हम इस नुकसान की पूर्ति का विचार छोड़ भी दें, । भी, जैसा कि हम पहले भी बतला चुके हैं, एक सुयोग्य नागरिक तैयार करने में सरकार को यदि कुछ खर्च करना पड़े, तो वह उसका नुकसान नहीं गिना जायगा। यदि विद्यार्थियों को रोजमर्रा की आवश्यकताओं के उद्योग, उदाहरणार्थ सूत-कताई, रँगाई, बुनाई, दर्जीगिरी, चटाई और टोकन बनाना, कुम्हार का काम, मोची का काम, बढ़ईगिरी, लुहारी, ठठेरी, हाथ-कागज बनाना, गुड़ बनाना, तेल-पेराई, मधुमक्खी-पालन आदि सिखाये जायँ, तो उनका उत्पादन खपाना कोई बड़ी समस्या नहीं बन जायगी। किसी कारीगर के पास काम सीखने के लिए यदि कोई उम्मीदवार रहता है, तो वह शुरू से ही अपने खर्च जितनी कमाई नहीं कर सकता। उसको सिखाने में शुरू-शुरू में कुछ-न-कुछ नुकसान ही होगा। थोड़ा सीख लेने पर सम्भव है कि उसकी चीजें खप सकें और उसके बाद की चीजों में से सम्भव है कि वह अपनी पढ़ाई का पूरा खर्चा निकाल सके। इसलिए शुरू के सालों की शिक्षा के लिए सरकार को कुछ इन्तजाम करना चाहिए या लोगों को खास इसी काम के लिए कुछ जायदादें आदि, उदाहरणार्थ जमीन आदि, खास इसी काम के लिए सुरक्षित रखनी चाहिए। पहले ऐसा होता रहा है, पर जब से ब्रिटिशों की टैक्स लगाने की पद्धति शुरू हुई, हमारे देहाती स्कूल टूट गये। पर बच्चों की शिक्षा की जिम्मेदारी तो हमेशा सरकार की होनी चाहिए। आज की हालत में हमारे सामने जो आर्थिक समस्या खड़ी है, वह राजनीतिक कारणों से है। वह कोई स्वाभाविक समस्या नहीं है। इसलिए उन राजनीतिक कारणों को हटाना चाहिए और ऐसा नहीं

समझना चाहिए कि ये अड़चनें दुर्लंघ्य हैं। शिक्षक स्वयं अच्छी तरह से ट्रेण्ड (प्रशिक्षित) होना चाहिए और उसे समुचित वेतन—मान लीजिये कि २५ रुपये मासिक शुरू किया जाय—देना होगा। उसके स्कूल की पढ़ाई के घण्टे और सालभर का कार्यक्रम गाँव के कार्यक्रम के अनुकूल रहे। जब फसल काटने का मौसम रहे या अन्य ऐसे ही मौकों पर जब खेतों पर ज्यादा काम हो, तब स्कूल में छुट्टी रहे।

योजना की मोटी रूपरेखा—इस बुनियादी शिक्षण-पद्धति में, या जो आजकल वर्धा-शिक्षण-पद्धति के नाम से जानी जाती है, उसमें ७ साल की उम्र से १४ साल तक के लड़कों और लड़कियों को अनिवार्य रूप से पढ़ाने की कल्पना है। शिक्षा का जरिया कोई उद्योग रहेगा, जिसकी मार्फत सारे विषय पढ़ाये जायेंगे। बच्चे का दैनन्दिन जीवन, उद्योग से उसका सम्बन्ध, बच्चे के आसपास का प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण इनमें ऐसे मौके निर्माण हो सकते हैं, जिनसे उसे विभिन्न विषयों की जानकारी करायी जा सके। हमारा ध्येय यह रहेगा कि हम केवल अंग्रेजी का ज्ञान छोड़कर और सब विषयों में विद्यार्थी को आज के मैट्रिक के समकक्ष जानकारी दें। जब तक विद्यार्थी को चित्रकला का कुछ ज्ञान नहीं होता, तब तक उसे लिखना नहीं सिखाया जायगा। पढ़ना उसे पहले सिखाया जायगा। १२ साल की उम्र के बाद विद्यार्थी को धन्धे के तौर पर कोई भी उद्योग चुनने की स्वतन्त्रता रखी जा सकती है। इस शिक्षा-पद्धति का यह मकसद कदापि नहीं है कि १४ वर्ष की उम्र के निष्णात कारीगर निर्माण करे, पर उस उम्र तक उसे काफी ट्रेनिंग मिल जायगी, ताकि वह अपने धन्धे में पड़कर अपनी तमाम शक्तियों का अच्छा उपयोग कर सके।

इस योजना की केन्द्रित कल्पना यही है कि विद्यार्थी का बौद्धिक विकास किसी उद्योग या धंधे की ट्रेनिंग की मार्फत हो। मौजूदा पद्धति में सामान्य शिक्षा पर प्रथम जोर दिया जाता है, और बाद में उनकी बुनियाद पर किसी धन्धे की जानकारी करायी जाती है। इसलिए जब हम

बौद्धिक विकास पहले कर देते हैं, तो हम एक तौर से विद्यार्थी के हाथ-पैर बाँध देते हैं और वह व्यवहार-चतुर नहीं बनता। बचपन में ही जो इन्द्रियाँ बधिर बना दी गयी हों, उन्हें बाद में लाख कोशिशें करने पर भी कार्यक्षम नहीं बनाया जा सकता। किसी प्रत्यक्ष अनुभव के सिवा दी हुई शिक्षा स्मरण-शक्ति की कसरत-सी हो जाती है। उससे विद्यार्थी का व्यक्तिगत विकास नहीं होता।

परीक्षाएँ—इस योजना में परीक्षाओं का बहुत सारा भार शिक्षकों पर होगा, विद्यार्थियों पर नहीं। चूँकि विद्यार्थी के २४ घण्टों के जीवन पर शिक्षक का नियन्त्रण रहेगा, इसलिए उसका हरएक विद्यार्थी के घर से और उसके द्वारा गाँव से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहेगा। उन घरों और पूरे गाँव की हालत देखकर शिक्षक के काम का अन्दाजा लगाया जा सकेगा।

स्त्रियों का हिस्सा—हमें बच्चे की बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति अभिप्रेत है। शुरू में बच्चा किसी भी चीज का रूप या आकार खयाल में लेता है, फिर उसका रंग और उसकी गतियाँ खयाल में रखता है। और फिर वह चीज ऐसी क्यों है, इसको समझने की कोशिश करता है। बाद में कोशिश करके देखता है कि वह अपनी इच्छा के अनुसार कोई चीज बना सकता है या नहीं। इस प्रकार वह खेल से अन्वेषण की ओर और अन्वेषण से नव-निर्माण की ओर अग्रसर होता है। हमारी शिक्षा-पद्धति में इन तीनों परिस्थितियों का पूरा उपयोग कर लेने की गुंजाइश होनी चाहिए, तभी बच्चों की बुद्धि का पूरा विकास हो सकेगा। ऐसा कर सकने के लिए शिक्षक में बच्चे की मनोभूमिका में समरस हो सकने की क्षमता होनी चाहिए। स्वभावतः स्त्रियों में बच्चों की पहली अवस्था से समरस होने की क्षमता अधिक रहती है। हिन्दुस्तान की स्त्रियों में शिक्षा का अभाव होने से यहाँ की शिक्षण-पद्धति का कोई कम नुकसान नहीं हुआ है। यहाँ की माताएँ न तो अपने बच्चों की शिक्षा का भार उठा सकती हैं और न स्कूलों में शिक्षिका के तौर पर काम करने के लिए स्त्रियाँ ही मिलती हैं। मेरी तो ऐसी राय है कि यदि

हमें स्कूलों को सुधारना है, तो हमें सर्वप्रथम लड़कियों और नवयुवतियों को शिक्षित करना चाहिए; क्योंकि वे ही भावी पीढ़ियों की संरक्षिका हैं। वहाँ से यदि हम शुरूआत नहीं करते हैं तो अकेले पुरुषों द्वारा संचालित कैसी भी अच्छी योजनाएँ बेकार ही साबित होंगी, क्योंकि पुरुषों का बच्चों से जो सम्पर्क होता है, वह उनकी प्रभाव पड़ने योग्य अवस्था बीतने के बाद ही होता है। आठ साल से नीचे के बच्चों का हरएक देहाती स्कूल स्त्रियों के हाथों में ही होना चाहिए। करीब-करीब ऐसा नियम ही होना चाहिए कि चन्द अपवादों को छोड़कर, ऐसे स्कूलों में किसी पुरुष की नियुक्ति ही न हो।

बच्चों के विकास की दूसरी अवस्था में हमें ऐसे व्यक्ति चाहिए जो उनकी विचार-शक्ति को प्रेरित कर सकें और किसी भी घटना का कार्य-कारण भाव उन्हें समझा सकें। मुझे न्यूयॉर्क के एक लेबर यूनियन के फेडरेशन द्वारा संचालित स्कूल देखने का मौका मिला था। उस स्कूल के तमाम लोग एकत्रित रहते थे और विद्यार्थी भी खुराकी चीजें प्राप्त करने और अन्य घरेलू मामलों में हाथ बँटाते थे। उनकी अपनी निजी डेयरी थी। एक शिक्षक के जिम्मे वह कर दी गयी थी और कुछ विद्यार्थी उसकी मदद के लिए दे दिये गये थे। मैंने ११ साल के बच्चों का एक 'आर्थिक क्लास' चलता हुआ देखा। उस दिन का विषय था 'गाय खरीदना'। १० साल का एक बच्चा क्लास ले रहा था और शिक्षक मेरे साथ एक पिछली बेंच पर बैठा था। उस बच्चे ने—उसको हम हेनरी कहेंगे—क्लास को अपने शिक्षक (बिल) के साथ नजदीक के बाजार में गाय खरीदने के लिए जाने पर अपने प्राप्त अनुभव सुनाये। क्लास इस किस्म से चला। "आजकल अपनी गायों से हम लोगों को पर्याप्त दूध नहीं मिलता, इसलिए मैं और बिल एक नीलाम में गाय खरीदने के लिए गये।" एक विद्यार्थी ने पूछा, "नीलाम क्या चीज है?" दूसरे ने खुलासा किया कि नीलाम एक ऐसी दूकान है, जिसमें चीजों की कीमतें निश्चित नहीं होतीं। दूकानदार कोई एक चीज बेचने के लिए बाहर निकालता है और

सामाजिक जीवन : १० :

अब तक हमने मनुष्य के व्यक्तिगत दैनिक आर्थिक जीवन की निस्बत ही चर्चा की है। इस अध्याय में हम उसके सामाजिक जीवन के बारे में चर्चा करेंगे। हमने यह देखा है कि मनुष्य का जीवन कुदरत का ही एक अंग है। इस दृष्टि से मनुष्य का जीवन विश्व की एक कला मात्र है। इसी दृष्टिकोण से हमारे दैनिक जीवन का भी परीक्षण होना चाहिए।

मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन तो एक छोटी सी चीज है, पर उसका जब दूसरों से सम्बन्ध होता है, तब उसको कई मर्यादाएँ लग जाती हैं। मनुष्य जैसा चाहे, वैसा बर्ताव नहीं कर सकता। उसके आचरण पर दूसरों की भलाई का अंकुश लगा रहता है। इसलिए किसी भी व्यक्ति की आदतें, उसके स्वास्थ्य और उसकी रहन-सहन पर उसके आसपास के वातावरण की छाप पड़े बगैर नहीं रहती।

इस बात को खयाल में रखकर लोगों को सामाजिक जीवन कैसे बिताना चाहिए, इसके हम कुछ सर्वसामान्य नियम बना सकते हैं। हिन्दुस्तान में बहुत-से लोग छोटी-छोटी झोपड़ियों के बने गाँवों में रहते हैं। इसलिए इस दृष्टि से ग्रामीण जीवन का अभ्यास करना चाहिए।

इसकी एक मिसाल देंगे। मनुष्य अपने शरीर का क्षय रोकने के लिए, रोग-प्रतिकारक शक्ति और उत्साह प्राप्त करने के लिए भोजन करता है। खुराक में से शरीर अपने लिए आवश्यक तत्त्व ले लेता है और जो तत्त्व वह हजम नहीं कर सकता, उसे वह कुदरत को वापस दे देता है। यह वापस करने की क्रिया इस तरह से करनी पड़ती है कि कुदरत उससे लाभ उठा सके और दूसरे मनुष्यों को कोई नुकसान न पहुँचे। इस तरह से हरएक सवाल के दो पहलू हैं और आगे के पृष्ठों में हम इन्हीं पर विचार करेंगे।

इसलिए इस अध्याय में हमें सफाई, स्वास्थ्य और मकानों के बारे में किन-किन मुद्दों पर गौर करना चाहिए, इनको हम सरसरी निगाह से देख जायेंगे और उसके बाद गाँवों में मनुष्यों का आपसी सम्बन्ध क्या होना चाहिए, इस पर विचार करेंगे, ताकि गाँव एक नयी विचारधारा की संगठित इकाई बन जाय। ये इकाइयाँ स्वायत्त राज्य की बुनियाद बनेंगी। यहीं पर ग्रामों को राज्य की व्यवस्था और स्वायत्त शासन की शिक्षा मिला करेगी। इसीलिए हमें इन ग्रामीण संगठनों पर काफी जोर देना चाहिए।

इस प्रकार जब ग्राम संगठित हो जायेंगे, तब वे अपनी एक खास संस्कृति निर्माण करेंगे, जो उस संगठन की खासियत होगी। यह ठीक उसी प्रकार होगी, जिस प्रकार किसी व्यक्ति की अपनी खासियत होती है। ग्रामीण जीवन की इन बातों के कारण हम स्थायित्व की ओर अग्रसर होंगे। मनुष्य की उम्र अधिक-से-अधिक ७० साल की होती है, पर ग्रामीण संस्कृति पर अधिष्ठित यह संगठन स्थायी बन जायगा। हम जो संस्कृति निर्माण करेंगे, वह केवल मनुष्य के स्वभाव पर ही अवलम्बित नहीं रहेगी, बल्कि हमने इस पुस्तक में जो दृष्टिकोण शुरू से रखा है, उस पर भी अवलम्बित रहेगी। हमने सारी समस्याओं को हल करने के लिए अहिंसा और सत्य के रास्ते से कैसे चला जा सकता है, इसी दृष्टि को प्रधान रखा है। यदि यह काम सावधानी से किया जाय और छोटे-से-छोटे तफसील पर भी बारीकी से अमल किया जाय, तो इन्हीं तत्त्वों की बुनियाद पर बना समाज हम कायम कर सकेंगे।

सफाई

व्यक्तिगत सफाई की आदतें—पुश्तैनी आदतों के कारण ग्रामीणों की व्यक्तिगत सफाई की बहुत ऊँची कल्पना थी। बदनसीबी से इनमें से कुछ अच्छी आदतें आधुनिकता के नाम पर छोड़ी जा रही हैं। इसलिए सफाई की पुरानी व्यक्तिगत अच्छी आदतों के महत्त्व पर फिर से

जोर दिया जाना चाहिए और जहाँ जरूरत महसूस हो, वहाँ नयी आदतें भी डलवानी चाहिए।

सामूहिक सफाई—हमारे ग्रामीण जीवन की शृंखला में यह सबसे कमजोर कड़ी है। आज देहातों के रास्ते, पगडंडियाँ, सार्वजनिक स्थान और तालाबों के किनारे सार्वजनिक पैखाने ही बन गये हैं। लोग अविचारपूर्वक चाहे जहाँ टट्टी फिरते हैं और इस प्रकार लोगों के चलने-फिरने की जगहें और यहाँ तक कि पीने का पानी भी गन्दा कर देते हैं। पर इसके लिए केवल ग्रामीण ही पूर्णरूपेण जिम्मेदार नहीं हैं। किसी गाँव में टट्टियों या पेशाबघरों की व्यवस्था नहीं होती और वहाँ के मकान इतने छोटे और सटे होते हैं कि हरएक मकान में इनकी व्यवस्था करना असंभव-सा होता है। इसलिए सार्वजनिक टट्टियाँ, पेशाबघर और स्नान-गृह बनाना और उनका समुचित प्रबन्ध रखना बहुत जरूरी हो गया है। साथ-ही-साथ तमाम कूड़ा, करकट और मैले की खाद बनाने की योजना भी अमल में लानी चाहिए। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था तथा सफाई के लिहाज से ऐसा कार्यक्रम जरूरी है। सामूहिक सफाई के लिए नीचे दी हुई बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए :

(१) कम खर्च में, पर उपयुक्त नालियाँ बनवानी चाहिए। वे खुली हों, तो भी कोई हर्ज नहीं। समय-समय पर उनकी सफाई होनी चाहिए और देशी जन्तुनाशक द्रव्य उनमें छोड़ना चाहिए।

(२) नाली के पानी का शाक-भाजी और फल के वृक्षों के लिए तथा टट्टियाँ धोने के लिए उपयोग करना चाहिए।

(३) तमाम कूड़ा-करकट इकट्ठा करना चाहिए और उसकी खाद बना देनी चाहिए।

(४) गाँवों के कुएँ, पगडण्डियाँ, तालाब और मैदान साफ-सुथरे रखने चाहिए।

(५) गाँवों के लोगों के उपयोग के लिए छोटे-छोटे बाग लगाने और

उनकी व्यवस्था करनी चाहिए। बच्चों के खेलने के लिए साफ-सुथरे मैदान होने चाहिए।

स्वास्थ्य

(१) **गाँवों की खुराक**—गाँवों में पौष्टिक खुराक का अभाव जहाँ-तहाँ दिखाई देता है। ग्रामों में ही पैदा हो सकनेवाली कई चीजों की खाद्योपयोगिता देहातियों को समझानी चाहिए। संतुलित आहार के मानी क्या हैं और देहाती पैदावारों से भी संतुलित आहार कैसे कायम किया जा सकता है, इसकी जानकारी हरएक कुटुम्ब को होनी चाहिए।

स्वास्थ्य-विभाग को चाहिए कि वह इस दिशा में शिक्षा देने का काम हर केन्द्र में जोरों से शुरू करे। उन केन्द्रों के क्षेत्रों की चावल की मिलों पर पाबन्दी लगाकर सरकार को इस काम का श्रीगणेश करना चाहिए।

(२) **पीने का पानी**—साफ पीने के पानी की व्यवस्था एक बुनियादी जरूरत है। गाँवों में मौजूदा कुओं से कहीं अधिक कुओं की जरूरत है। पुराने कुओं की मरम्मत होनी चाहिए। कहीं-कहीं साफ और सुरक्षित पानी के तालाबों से पीने का पानी मुहैया कराना पड़ेगा। सबसे पहले किये जानेवाले जरूरी कामों में से यह एक है।

(३) **रोक-थाम के इलाज**—रोगों का इलाज करने के बदले रोगों की रोक-थाम के इलाज करने पर अधिक जोर देना चाहिए। इसका मतलब है संतुलित आहार पर जोर, व्यक्तिगत और सामूहिक सफाई पर जोर, आम तौर से स्वास्थ्यकर रहन-सहन और व्यायाम तथा मनोरंजन की व्यवस्था।

(४) **मामूली बीमारियाँ और उनके सस्ते इलाज**—देहातों की मामूली बीमारियों की रोकथाम और इलाज लोगों को सिखाना चाहिए। कुदरती पद्धतियाँ और देहातों में मिलनेवाली जड़ी-बूटियों के सस्ते इलाज पर खास जोर देना चाहिए। सस्ते जन्तुनाशक द्रव्य कैसे तैयार हों और उनका कैसे उपयोग करना है, यह हर कुटुम्ब को सिखाना

चाहिए। स्वास्थ्य-विभाग को चाहिए कि इस दृष्टि से वह विषैली जड़ी-बूटियों का अनुसंधान कराये।

(५) **व्यायाम और मनोरंजन**—हरएक गाँव में खुले मैदान रखे जाने चाहिए और वहाँ मनोरंजन और व्यायाम के साधन उपलब्ध होने चाहिए। सूर्य नमस्कार, आसन और सामूहिक ग्रामीण खेलों को प्रोत्साहन देना चाहिए और इनका संगठन करना चाहिए।

मकान—अधिक अच्छे और स्वास्थ्यप्रद मकान बहुत महत्त्व रखते हैं। गाँवों के मकान गन्दे होते हैं, उनमें रहनेवालों की काफी भीड़ रहती है और वे किसी एक नक्शे को लेकर नहीं बने होते। इसके लिए कोई अच्छी योजना बनाकर यह हालत बिलकुल बदल देनी है। ऐसी योजना ग्राम-पंचायत, सरकारी स्वास्थ्य-विभाग और सरकारी पब्लिक वर्क्स विभाग के अधिकारियों की सहायता से बनायें। उसमें नीचे लिखी बातों पर जोर रहे :

१. गाँवों के बाहर मकान बनाने की एक योजना बनाकर गाँवों के मकानों की भीड़ कम करनी चाहिए।

२. भविष्य में सब मकान केवल सहकारी तत्त्वों पर ही बनाये जायँ।

३. मौजूदा मकानों में कैसे सुधार किये जा सकते हैं, इसका शिक्षा द्वारा प्रचार हो।

४. हरएक मकान का गन्दा पानी बहा ले जाने के लिए नालियाँ होनी चाहिए और सड़क का पानी बहा ले जानेवाले गटर रास्तों पर होने चाहिए। पहला काम सोकपिट बनाकर और उन्हें समय-समय पर साफ करवाकर किया जा सकता है। दूसरा काम सस्ती—फिर वे भले ही खुली क्यों न हों—नालियाँ बनवाकर और उन्हें समय-समय पर साफ कराकर और उनमें जन्तुनाशक द्रव्य डालकर किया जा सकता है। आम तौर से तमाम गन्दा पानी साग-सब्जी और फल-झाड़ों के बगीचों में छोड़ना चाहिए।

५. गाँवों के मकान बहुत छोटे होते हैं और उनमें रहनेवालों की

संख्या बहुत होती है। इसलिए हरएक गाँव में सार्वजनिक पाखाने और स्नान-गृह होने चाहिए।

६. जहाँ-कहीं गन्दला पानी इकट्ठा होता हो, उन गड्ढों को भर देना चाहिए, क्योंकि ऐसे गन्दले पानी के गड्ढे मलेरिया आदि बुखार के कारण बन जाते हैं।

७. किसी योजनानुसार गाँव के रास्ते और पगडण्डियाँ निश्चित करनी चाहिए।

८. सरकारी स्वास्थ्य-विभाग और लोक-कर्म-विभागों को चाहिए कि वे देहातों की दृष्टि से आदर्श मकान कैसे हो सकते हैं, इसके छोटे-छोटे नमूने बनवाकर लोगों को बतायें।

९. चन्द गाँवों में सफाई और स्वास्थ्यकर वातावरण की दृष्टि से इष्ट रद्दोबदल कर सकना यदि नामुमकिन हो, तो वे गाँव नजदीक के ही खुले मैदान में क्रमशः धीरे-धीरे योजनापूर्वक बनाने चाहिए। इस नयी जगह में जगह तो मुफ्त ही मिलनी चाहिए और सहकारी तत्त्व पर मकान बनाने के लिए कुछ आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए।

१०. मकान बनवाने की नयी योजनाओं में आज के समान हरिजनों की बस्ती गाँव से अलग न रखी जाय, इसकी खास खबरदारी रखनी चाहिए।

ग्राम का संगठन—यह तीन संस्थाओं की मार्फत किया जा सकेगा : (१) ग्राम की व्यवस्था के लिए ग्राम-स्वराज्य के आधार पर चलायी जानेवाली ग्राम-पंचायत, (२) ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के लिए विविध उद्देश्यीय सहकारी संस्था और (३) गैर-सरकारी तौर पर तमाम ग्रामीणों की शक्ति ग्रामोत्थान की योजना की सफलता के लिए केन्द्रित करने के हेतु एक ग्राम-सेवा-संघ।

(१) ग्राम-पंचायत—हर गाँव या कुछ गाँवों की मिलकर एक ग्राम-पंचायत होनी चाहिए। इसका चुनाव प्रौढ़ मतदान की बुनियाद

पर होना चाहिए और उसकी सुविधा के लिए गाँव या गाँवों को कई सुविधाजनक वार्डों (भागों) में बाँट देना चाहिए।

गाँवों से सीधा सम्बन्ध रखनेवाली हरएक विषय की जिम्मेदारी इस ग्राम पंचायत की होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, गाँवों के रास्ते, गाँवों के पीने के पानी का इन्तजाम, गाँवों की शिक्षा, गाँवों के दवाखाने, गाँवों की सफाई, कुछ हद तक न्याय-दान, गाँवों की रोशनी का इन्तजाम आदि की व्यवस्था ग्राम-पंचायत के जिम्मे होनी चाहिए। हरएक गाँव में उपर्युक्त सुविधाएँ अवश्य होनी चाहिए। यदि इकट्ठा होनेवाला पैसा और इस कार्य के लिए दिया जानेवाला उसका हिस्सा पर्याप्त न होता हो, तो सरकार को चाहिए कि वह कमी की रकम स्वयं दे।

लाइब्रेरी (पुस्तकालय), सभा-भवन, प्रदर्शन आदि एक दूसरी किस्म की सुविधाएँ हैं, जिनका खर्च कुछ स्थानिक चन्दे से और कुछ सरकार की ओर से मिलना चाहिए।

चुने हुए क्षेत्र की सभी पंचायतों की एक यूनियन होनी चाहिए। इस यूनियन का काम अपने मातहत की सब पंचायतों के आवश्यक कामों को एक-दूसरे से सम्बन्धित करने का होगा। ये यूनियन पंचायतों का मार्ग-दर्शन करेंगी, उनका निरीक्षण करेंगी और उनके हिसाबों की जाँच करेंगी। ये यूनियन बुनियादी और उत्तर-बुनियादी शिक्षा की व्यवस्था करेंगी और बड़े अस्पताल और सूतिकागृह चलायेंगी। इन यूनियनों के मातहत एक असिस्टेण्ट इंजीनियर रहा करेगा, जो सब कामों का तखमीना बनायेगा और काम पूरा करेगा।

उस क्षेत्र की तमाम पंचायतों के प्रतिनिधि इन यूनियनों में रहेंगे। इनके खर्च के लिए पंचायतों से सहायता और सरकार से अनुदान मिला करेगा।

विशेष सूचना—ग्राम-पंचायतें केवल व्यवस्था देखनेवाली समितियाँ ही न बनें। उनको चाहिए कि वे ग्रामीणों को सच्चे नागरिक की जिम्मेवारियों से परिचित करायें और हर बालिग व्यक्ति को ग्रामीण

नागरिक के नाते अपने हक और कर्तव्य क्या हैं, इनका भान करायें। सामाजिक सुधार, जैसे जुआ और तत्सम बुराइयों को रोकना, लोगों में अन्धविश्वास की प्रवृत्ति को हटाना और अस्पृश्यता आदि को दूर करना आदि काम भी उन्हें उठाने चाहिए।

सदियों से हरिजन और आदिवासी लोग पूरे समाज से पृथक्-से हो गये हैं। वे समाज के ही एक अंग हैं और उन्हें अलग रखना सामाजिक अन्याय है, यह बात लोगों को बताने की सख्त जरूरत है। इसके लिए जोरदार और खास संगठित प्रयत्न होना चाहिए। समाज में स्त्रियों की दर्दनाक हालत भी एक गम्भीर सवाल है, पर यह किसी एक संस्था या विभाग द्वारा हल नहीं किया जा सकता। इसके लिए तो सारे समाज को जाग्रत करने और पुराने विचार सुधारने की जरूरत है। इस दिशा में खास ध्यान देने की जरूरत है। इस काम के लिए कुछ अनुभवी और गृहशास्त्र (उदाहरणार्थ रसोई बनाना, दवा-दारू करना, बुनाई, दर्जी का काम इत्यादि) में निपुण स्त्रियाँ उपयुक्त साबित हो सकती हैं।

(२) **विविध उद्देश्यीय सहकारी समितियाँ**—जिस प्रकार गाँव की राज्य-व्यवस्था का काम ग्राम-पंचायतें करेंगी, उसी प्रकार उसकी अर्थ-व्यवस्था का काम ये विविध उद्देश्यीय सहकारी समितियाँ करेंगी। ये समितियाँ नीचे दिये हुए काम करेंगी :

(१) गाँव का अनाज एकत्र कर उसका संग्रह करना।

(२) खुराकी चीजों पर क्रियाएँ करना।

(३) गाँवों के उत्पादन और आवश्यक आयात किये हुए माल का संतुलित वितरण।

(४) कृषि की विभिन्न क्रियाओं तथा ग्रामोद्योगों में लगनेवाले औजारों का संग्रह रखना।

(५) कपास, ऊन, लकड़ी, धातु इत्यादि आवश्यक कच्चे मालों का संग्रह करना।

(६) तैयार माल की बिक्री करना।

(७) गाँव की अतिरिक्त पैदावार के बदले में बाहर से आयात के लिए जरूरी सामान के मँगाने का प्रबन्ध करना।

(८) परस्पर सहकारिता के तत्त्व पर प्रमुख ग्रामोद्योगों को संगठित करना, जिससे उन उद्योगों से मिलनेवाला मुनाफा या लाभ यथासम्भव उस समूचे गाँव को ही मिले। तमाम लोगों को उपयुक्त कामों में संलग्न रखने की फिक्र रखनी चाहिए, ताकि थोड़ी भी मनुष्य-शक्ति बेकार न जाने पाये। उद्देश्य यह हो कि कोई भी बेकार या अर्ध-बेकार न रहने पाये।

(९) ग्रामीण कलाकारों को अपनी कलाओं में उन्नति करने की प्रेरणा दे सकें, ऐसे आधुनिक कुशल कलाकार जुटाने चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा और निरीक्षण का सारा खर्च सरकार को उठाना चाहिए।

(१०) हरएक समूचे क्षेत्र के लिए एक ट्रेण्ड कोऑपरेटिव इन्स्पेक्टर चाहिए।

(११) गाँव तथा ग्रामीणों को तमाम उपलब्ध जानकारी मयस्सर कराना और उनका मार्ग-दर्शन करना।

(३) ग्राम-सेवा-संघ—अब यह सवाल उठाया जा सकता है कि ग्राम-पंचायत और विविध उद्देश्यीय सहकारी समितियाँ जब ग्राम की व्यवस्था कर रही हैं, तब फिर ग्राम-सेवा-संघों की क्या जरूरत है? पर यह न भूलना चाहिए कि ग्राम-पंचायत और विविध उद्देश्यीय सहकारी समितियों में केवल कुछ चुने हुए प्रतिनिधि ही काम करेंगे और उनको चुन देनेवाले तमाम बालिग लोग क्या केवल प्रेक्षकों का ही काम करते रहेंगे? यदि हम उन्हें किसी कार्य के लिए नहीं प्रयुक्त करेंगे, तो उनकी ऐसे प्रेक्षकों की-सी हालत रहेगी। हमारे खयाल से ग्राम-सेवा-संघ गैरसरकारी स्वयंसेवकों का संघटन होगा, जिसके सदस्य ऐसे काम करेंगे, जो ग्राम-पंचायत और विविध उद्देश्यीय सहकारी समिति के कार्यों के पोषक होंगे। ग्राम-सुधार अफसरों को चाहिए कि वे ग्राम-सेवा-संघों को संघटित करने, उनको बलशाली बनाने और उनका पूरा उपयोग कर लेने में प्रयत्नशील

रहें। ये संघ स्वतन्त्र रहेंगे, उनका अपना निजी विधान, कायदे-कानून और पैसा रहेगा। सरकार ऐसे संघों की आजादी कायम रखते हुए इन्हें अनुदान (ग्रांट) दे सकती है। ग्राम-सेवा-संघ गाँवों की सफाई करने, ग्रामीण सभाओं और त्योहारों में प्रबन्ध करने, ग्रामीणों की जान-माल की रक्षा करने और बाढ़ या किसी संक्रामक रोग के प्रादुर्भाव के समय लोगों की सेवा करने और राहत पहुँचाने के लिए स्वयंसेवक तैयार रखने का काम करेंगे। सच पूछा जाय, तो सरकार ग्राम-पंचायत या सहकारी समिति के प्रत्येक वैतनिक कर्मचारी के साथ कई अवैतनिक स्वयंसेवक काम करने के लिए जरूरी हैं। ग्राम के लोगों में से ही ऐसे स्वयंसेवक तैयार करने का काम ये ग्राम-सेवा-संघ करेंगे।

नोट—अब तक हमने ग्रामों के संगठन के साधन के तौर पर ग्राम-पंचायतों, विविध उद्देश्यीय सहकारी समितियों और ग्राम-सेवा-संघों का जिक्र किया, पर ग्रामों के संगठन का अन्तिम ध्येय तो ग्रामों को खुराक, कपड़ा और अन्य महत्त्व की जरूरतों की निस्बत स्वावलम्बी बनाना है। यही ग्रामीण जीवन की बुनियाद है और इसे हमें शान्तिमय उपायों और प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के द्वारा पक्की करना है।

ग्रामीण संस्कृति—ग्रामीण संस्कृति की ओर किसीका भी ध्यान नहीं है। पर उसकी पुख्ता बुनियाद बिना ग्रामीण स्वायत्तशासन या ग्रामीण स्वावलम्बन के कभी स्थायी नहीं हो सकती। कई सदियों के अनुभवों के बाद भारत ने एक ऐसी संस्कृति निर्माण की है, जो सब किस्म के आघात सहकर पुख्ता बन गयी है। उसका नये दृष्टिकोण से अनुसंधान और परिवर्धन होना चाहिए। इस संस्कृति की देहातों की स्त्रियाँ खास वारिस हैं और इसीसे ग्रामीण जीवन को सुन्दरता और बल मिलता है। ऐसा कई बार देखा गया है कि देहात की बुढ़िया विश्वविद्यालयों के स्नातकों को अपनी व्यावहारिक बुद्धिमानी और जीवन की समस्याओं के उकेलों से मात दे देती हैं। इस संस्कृति को पनपाने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जाते हैं :

(१) ग्रामों की परम्परा और आदतों, संस्थाओं और उनके इतिहास का अध्ययन किया जाना चाहिए।

(२) लोकगीत, लोक-कहानियाँ और लोक-कला इनका अध्ययन होना चाहिए।

(३) कला-कौशल के हस्तोद्योग और अन्य ग्रामीण कलाओं का पुनरुज्जीवन और सुधार होना चाहिए।

(४) ग्रामीणों की शिक्षा की दृष्टि से भजन, कीर्तन, नाटक आदि आयोजित करने चाहिए।

(५) ग्रामीण उत्सव और अन्य महत्त्व के धार्मिक उत्सव आयोजित कर जाति-पाँति निरपेक्ष ग्रामीण एकता बढ़ाना—विभिन्न जातियों और धर्मों के अनुयायियों को एक-दूसरे के धार्मिक उत्सवों में खुशी से भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

(६) ग्रामीण वाचनालय, संग्रहालय और अध्ययन-मण्डल संगठित करने चाहिए।

(७) खेल-कूद, लोकनृत्य, दौरे आदि खुले मैदानों में किये जानेवाले मनोरंजक कार्यक्रम संगठित करने चाहिए।

नोट—ग्रामीण संस्कृति में जो नवीनता लानी है, वह यह है कि वह सृजनात्मक बने और उसके कारण लोगों के मूल्यांकन के पैमाने बहुत ऊँचे दर्जे के बनें। इन्हीं मूल्यों का व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन में आचरण होना चाहिए। ● ● ●

एक आदर्श योजना : ११ :

स्थायी समाज-व्यवस्था कायम करने की दृष्टि से जीवन के विभिन्न अंगों को किस प्रकार बनाना चाहिए, इसका अब तक जिक्र हुआ है। देश को किन आदर्शों के अनुसार संगठित करना जरूरी है, इसका हमने निर्देश किया है।

यह उद्देश्य साध्य होने के लिए हमें प्रयोगशाला के तौर पर कहीं प्रत्यक्ष इन दिशाओं में काम कर दिखाना चाहिए। वहीं भावी कार्य-कर्ताओं की ट्रेनिंग की भी व्यवस्था हो सकेगी। इसलिए अब तक जिन दिशाओं में काम करना सुझाया गया है, उनके मुताबिक प्रत्यक्ष काम किसी एक गाँव या गाँवों के एक समूह में शुरू कर देना जरूरी है। इसके लिए भिन्न-भिन्न कामों के लिए भिन्न-भिन्न संघ बनाये जायँ। इन संघों के सदस्य खुद को एक स्वतन्त्र प्रजासत्तात्मक घटक के सदस्य समझें और वे अपने-अपने संघ की स्वतन्त्र रूप से खुद व्यवस्था करें। इन संघों को हम 'लोक-सेवक-संघ' कहेंगे और ये किसी एक ही योजना के अन्तर्गत काम करेंगे।

जब ये संघ काफी बलशाली बन जायेंगे, तब वे आप-ही-आप सरकार के 'विरोधी पक्ष' बन जायेंगे, क्योंकि वे अपने कार्य से सरकार को काम करने का सही तरीका बतलाते रहेंगे।

स्पर्धा-प्रधान व्यवस्था में सरकारी कार्यकारिणी पर विरोधी पक्ष का अंकुश रहता है; पर हमें जिस तरह की सत्य और अहिंसा की बुनियाद पर खड़ी व्यवस्था अभिप्रेत है, उसमें ऐसे विरोधी पक्ष को कोई स्थान नहीं। हमारी यह कोशिश होनी चाहिए कि अपनी कार्य-पद्धति की अच्छाई से सरकार का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो जाय और वह अपने कामों में उन्हीं योजनाओं की नकल करे। प्रथम तो यह संगठन कई स्थानों में

शुरू होगा और अन्ततोगत्वा ये सब एक होकर 'लोक-सेवक-संघ' बनेगा। यह एक बहुत बड़ी ताकत होगी और सरकार उसकी दर-गुजर नहीं कर सकेगी। इसलिए ऐसे संघ की नीति का राष्ट्र की नीति पर काफी असर पड़ेगा।

इस संघ के विधान के लिए निम्नलिखित सुझाव हैं :

मन्त्रिमण्डल—इस लोक-सेवक-संघ के मन्त्रिमण्डल में अध्यक्ष और मन्त्री सहित ९ के करीब सदस्य होंगे। अध्यक्ष और मन्त्री को छोड़कर अन्य प्रत्येक सदस्य के जिम्मे एक-एक विभाग होगा और वह उसका संचालक रहेगा। इन विभागों के नाम इस प्रकार हैं : १. स्वास्थ्य, २. शिक्षा, ३. अर्थव्यवस्था, ४. राजकीय विभाग, ५. सामाजिक विभाग और ६. प्रकाशन।

संचालक की कौंसिल—इन विभागों की नीति मन्त्रिमण्डल के सदस्य अपनी-अपनी कौंसिल की राय से तय करेंगे। उन्हें कार्यान्वित करने का काम स्वयं संचालक करेंगे। संचालक की कौंसिल में वे ही लोग लिये जायेंगे, जो उस विभाग के अलग-अलग फन में उस्ताद होंगे।

उदाहरणार्थ, स्वास्थ्य-विभाग की कौंसिल में एक मन्त्री होगा, जो खुराक का जिम्मेदार रहेगा, दूसरा बच्चों और सर्वसाधारण लोगों की खुशहाली का खयाल रखेगा, तीसरे के जिम्मे सफाई का काम रहेगा आदि। इन हरएक विभाग के लिए भी एक-एक परामर्शदात्री समिति रहेगी, जिसका अध्यक्ष संचालक स्वयं रहेगा।

मन्त्रियों की कमेटी—इन मन्त्रियों की कौंसिल को सलाह-मशविरे के लिए विशेषज्ञों की एक कमेटी रहेगी। इस कमेटी में विभिन्न प्रान्तों या विभाग के विशेषज्ञ रहा करेंगे। उदाहरणार्थ, खुराक की कमेटी में उस विभाग का मन्त्री अध्यक्ष रहेगा और उसके सदस्य विभिन्न प्रान्तों के खुराक के विशेषज्ञ होंगे, जो स्वयं लोक-सेवक-संघ के सदस्य होंगे। इस प्रकार इन विशेषज्ञों की कमेटी में सारे देशभर के विशेषज्ञ रहेंगे, जिससे सब जगहों के अनुभव का फायदा कमेटी को मिला करेगा।

अन्य क्षेत्रों में भी इसी प्रकार संगठन निर्माण होंगे। इस प्रकार सारे देश में ऐसी संस्थाओं का एक जाल-सा बिछ जायगा, जो अपने ध्येय और नीति में एक-दूसरे से बिलकुल मिलते-जुलते होंगे।

संचालकों की पार्लियामेंट—कैन्द्रीय लोक-सेवक-संघ का मंत्रि-मण्डल समय-समय पर प्रान्तीय या प्रादेशिक लोक-सेवक-संघों के संचालकों की पार्लियामेंट बुलाया करेगा और उसमें नीतिविषयक प्रश्नों की चर्चा हुआ करेगी।

उसी प्रकार विशेषज्ञों की भी एक आमसभा हुआ करेगी, जिसमें वे अपने-अपने अनुभवों और जानकारी के बारे में विचार-विनिमय किया करेंगे।

हरएक विभाग के मातहत के मन्त्रियों और विशेषज्ञों की किसी प्रकार सभाएँ हुआ करेंगी।

शिक्षण—इसमें विभिन्न तालीमी संघों द्वारा चलाये जानेवाले पूर्व-बुनियादी और बुनियादी विद्यालय रहेंगे, दूसरा विभाग हिन्दुस्तानी प्रचार का काम उठा लेगा और तीसरा शायद उत्तर-बुनियादी शिक्षा का जिम्मा ले लेगा। तीसरे विभाग के मातहत विश्वविद्यालयों के स्तर के विद्यापीठ स्थापित करना और अनुसंधान करना है। इन्हीं विद्यापीठों की यह जिम्मेदारी रहेगी कि वे हरएक रचनात्मक कार्य के लिए नये रंगरूट तैयार कर दें। इन विद्यापीठों में विभिन्न तालीमी संघों से छात्र आयेंगे।

आर्थिक विभाग—इस विभाग के मातहत कृषि, ग्राम-उद्योग, विविध उद्देश्यीय सहकारी समितियाँ ये काम और साथ-ही-साथ राजकीय जाग्रति निर्माण करना और प्रचार भी रहेंगे।

कृषि—इस धन्धे के सम्बन्ध की और स्वावलम्बन की निस्बत जानकारी करानी होगी। धन्धे की जानकारी में केवल पैसे की दृष्टि से कौनसी फसलें बोना, इस पर मुख्य तौर पर विचार होगा और स्वावलम्बी खेती में निजी उपयोग और विनिमय की दृष्टि से कौनसी फसल बोना

ठीक होगा, इसका ज्ञान कराया जायगा। उसमें बगीचों में फल का उत्पादन और साग-सब्जी बोना, इस पर विशेष जोर रहेगा।

पशु-संवर्धन—इस महकमे में जानवरों की नस्ल सुधारना, भेड़ और बकरी पालना और साथ-ही-साथ रेशम के कीड़ों का संवर्धन और मछली पालना इनको भी स्थान रहेगा। गोशाला चलाना और गोरस का समुचित वितरण यह भी इसी महकमे में शुमार रहेगा। गोशाला चलाने से जानवरों से सम्बद्ध अन्य उद्योग भी यथा, सींग का काम, चमड़ा सिझाने का काम, ताँत बनाना, सरेस बनाना आदि आप-ही-आप सम्बद्ध हो जायेंगे।

ग्राम-उद्योग—इसे सर्वप्रथम कृषि-विभाग से सहयोग करके खुराकी चीजों पर की जानेवाली प्रक्रियाओं का कार्य उठाना पड़ेगा। इसीके दूसरे हिस्से में उपभोक्ताओं के लिए आवश्यक बुनियादी चीजें जैसे कपड़ा बुनना, साबुन बनाना, कागज बनाना, कुम्हार-काम, चमड़ा सिझाना आदि रखनी होंगी।

विविध उद्देश्यीय सहकारी समितियाँ—ये उत्पादकों और उपभोक्ताओं को जोड़नेवाली कड़ी होंगी और ये वितरण का भी काम सँभालेंगी। वे कच्चा माल इकट्ठा करके उसे उत्पादकों को बाँटेंगी और उनकी तैयार चीजें लेकर बेचेंगी। वे यथासम्भव आर्थिक सहायता न कर काम के लिए सहूलियतें निर्माण कर देंगी।

राजकीय महकमा—यह लोगों के अर्थ-सम्बन्धी व्यवसाय और सरकार के बीच की कड़ी होगा। इस विभाग का मन्त्री जनता और सरकार में सम्पर्क स्थापित करनेवाला व्यक्ति होगा। देश के प्रमुख उद्योगों तथा सरकार नियंत्रित राष्ट्रीय सेवाओं का लोगों के फायदे की दृष्टि से किस प्रकार नियंत्रण किया जाना चाहिए, ऐसा सवाल जब-जब खड़ा होगा, तब-तब वह प्रान्तीय या केन्द्रीय सरकार से सम्बन्ध स्थापित करके उनका उचित पथ-प्रदर्शन करेगा।

इस महकमे का दूसरा विभाग प्रचार का काम करेगा। विद्यापीठों

में जिन बातों का अनुसंधान हुआ होगा, उनकी तथा अन्य आवश्यक बातों के आँकड़ों आदि की जानकारी यह लोगों को देगा और सरकारी प्रकाशन-विभाग से निकट सम्बन्ध रखेगा।

राजकीय विभाग—इसमें एक महकमा होगा, जो ग्राम-पंचायतें और अन्य राजकीय संस्थाएँ संगठित करेगा और दूसरा महकमा प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों की गतिविधि से परिचित रहकर आर्थिक विभाग के जन-सम्पर्क अधिकारी से बहुत नजदीकी सहयोग रखेगा।

सामाजिक विभाग—इसमें (१) जातीय एकता, (२) हरिजन तथा आदिवासियों का उद्धार, (३) कृषि तथा अन्य मजदूरों का संगठन, (४) नवयुवकों तथा स्वयंसेवकों को राष्ट्रीय दृष्टि से शिक्षा देना और (५) स्त्रियों पर के प्रतिबन्ध हटाना, ये पाँच महकमे रहेंगे।

प्रकाशन-विभाग—यह विभाग स्थायी उपयोग की पाठ्य-पुस्तकें तथा सन्दर्भ ग्रन्थ प्रकाशित करेगा और ऐसे नियतकालिक पत्र चलायेगा, जिनके द्वारा हरएक विभाग को एक-दूसरे के कामों और दुनिया के हरकतों की जानकारी मिलती रहेगी। इस विभाग में नवजीवन ट्रस्ट बहुत अच्छा काम कर सकता है। उसका हाल का साप्ताहिक 'हरिजन', 'लोकसेवक' बनकर गांधीजी का सन्देश तमाम रचनात्मक कार्यकर्ताओं को बखूबी पहुँचा सकेगा।

सारांश—सम्भव है कि यह योजना बहुत लम्बी-चौड़ी मालूम हो। पर प्रत्यक्ष अमल में लाने की दृष्टि से यह बहुत ही आसान है। विभिन्न लोक-सेवक-संघ अपना कार्य-क्षेत्र २५ से ३० हजार लोक-संख्यावाले १५ या २० देहातों के मर्यादित दायरे में रखेंगे और अपने-अपने क्षेत्र में ऊपर बताये हुए कार्य लगन से करेंगे। इस प्रकार इन संस्थाओं को लोगों के पूरे सहयोग से चलाने से लोगों को शिक्षा तो मिलेगी ही, पर साथ-ही-साथ सरकार के लिए भी एक आदर्श निर्माण होगा, जिसका अनुकरण करने पर हमें सच्चे दर्जे का स्वराज्य हासिल होकर उसके फायदे भी मिलेंगे।

लोक-सेवक-संघ के सदस्य के लिए प्रतिज्ञा—(१) मैंने लोक-सेवक-संघ का विधान और नियम पढ़ लिये हैं और मैं संघ का सदस्य बनना चाहता हूँ। ईश्वर-कृपा के भरोसे मैं अपनी शक्ति और बुद्धि का उपयोग ग्रामीणों की सेवा और उन्हें राहत पहुँचाने में, जो कि संघ का ध्येय है, खर्च करने की प्रतिज्ञा करता हूँ।

(२) मैं यथासम्भव अपना जीवन संघ के आदर्शों के अनुसार व्यतीत करने की कोशिश करूँगा।

(३) मैं अपने काम में राजनैतिक क्षेत्र में मतभेद रहते हुए भी हर किसीकी सहायता तथा सहकार्य प्राप्त करने की कोशिश करूँगा।

(४) लोक-सेवक-संघ की इच्छा और आदेश हुए बिना मैं किसी राजनीतिक काम में शरीक नहीं होऊँगा। यदि किसी विधान-मण्डल के चुनाव में मैं संघ के आदेशानुसार खड़ा हुआ, तो मैं उतना ही वेतन लूँगा, जितना संघ के कर्मचारियों को मिल सकता है और यदि कुछ अतिरिक्त आय मुझे हो, तो उसे मैं लोक-सेवक-संघ को दे दूँगा।

(५) मैं हमेशा खुद के कते सूत की बनी या अखिल भारत चरखा-संघ द्वारा प्रमाणित खादी ही पहनूँगा और ग्रामों में बनी चीजें इस्तेमाल करना अधिक पसन्द करूँगा। मैं कभी कोई नशीली चीज सेवन नहीं करूँगा। मैं खुद और अपने कुटुम्ब में किसी भी किस्म की छुआछूत नहीं मानूँगा। मेरा जातीय एकता में विश्वास है। मुझे सब धर्मों के प्रति आदर है। जाति, धर्म और लिंग निरपेक्ष सबको एक-सा मौका मिलना चाहिए, यह बात मैं मानता हूँ।

दस्तखत

ऐसे लोक-सेवक-संघ देशभर में फैलकर लोगों को सार्वजनिक कामों में एक-दूसरे के पास लायेंगे। वहीं पर राज्यकुशल व्यक्ति शिक्षित होकर निकलेंगे, जिन्हें सारे राष्ट्र की जिम्मेदारी का बोझ अपने कन्धों पर लेना होगा।

जब तक देश इस किस्म का संगठन नहीं अपनाता और तहे-दिल से सत्य और अहिंसा की बुनियाद पर नवसमाज निर्माण नहीं करता, तब तक हमारे आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक जीवन में कोई स्थायित्व नहीं निर्माण हो सकता। आज का संगठन स्पर्धा और केन्द्रित उद्योगों की बुनियाद पर खड़ा है और वह हमें समय-समय पर विश्वव्यापी युद्धों में उतार देता है। यदि राष्ट्र-राष्ट्र के बीच शान्ति कायम कर व्यक्ति को समृद्ध बनाना हो, तो ऐसे महायुद्धों को टालना ही पड़ेगा।

ऐसे ही राज्य में निर्बल को भी उचित मौका मिला करेगा, जन-साधारण के प्रति अन्याय न होगा, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ न होगी तथा धोखेबाजी और शोषण राजमान्य न होंगे। ऐसे समाज को अन्याय से प्राप्त सम्पत्ति की चमक-दमक शायद न मिले और न उसके व्यक्तियों को धूमकेतु जैसी प्रसिद्धि ही हासिल हो। पर वह धीरे-धीरे अपनी जंगली अवस्था से निकलकर इन्सान की प्रतिष्ठा अवश्य हासिल करेगा। इसके लिए काफी संयम की जरूरत है। हमें आशा है कि हम इतना संयम जरूर दिखा सकेंगे कि स्थायी समाज-व्यवस्था कायम हो सके।

MAHATMA GANDHI MEMORIAL LIBRARY

5, Kumara Park (East), Bangalore-1

DATE LABLE

CL. No. X0ay 152N58 Accn. No. H:00032

This book ought to be returned on or before the date last marked below, or fines will be incurred.

Due Date	Ticket No.	Inls.	Due Date	Ticket No.	Inls.

BANGALORE-1

सर्वोदय तथा भूदान-साहित्य

गीता-प्रवचन	१)
शिक्षण-विचार	१॥)
सर्वोदय-विचार और स्वराज्य-शास्त्र	१)
कार्यकर्ता-पाथेय	॥)
भूदान-गंगा (छह खण्डों में) प्रत्येक	१॥)
ज्ञानदेव चिंतनिका	१)
सर्वोदय के आधार	।)
शान्ति-सेना	॥)
समग्र ग्राम-सेवा की ओर (दो खंडों में) प्रत्येक	१॥)
शासन-मुक्त समाज की ओर	॥)
सर्वोदय-दर्शन	३)
सत्य की खोज	१॥)
बालक सीखता कैसे है ?	॥)
नक्षत्रों की छाया में	१॥)
भूदान-यज्ञ : क्या और क्यों	१)
ग्रामदान क्यों ?	१)
सफाई : विज्ञान और कला	।॥)
गो-सेवा की विचारधारा	॥)
सर्वोदय-संयोजन	१)
गांधी : एक राजनैतिक अध्ययन	॥)
पूर्व-बुनियादी	॥)
ग्राम-स्वावलंबन की ओर	।)
क्रांति की पुकार	।)
नवभारत	४)
श्रमदान	।)
अपना राज्य	।=)
अपना गाँव	।=)
ग्रामदान : वरदान	।)

जब अर्थशास्त्र और जीवन में ग्राम-दृष्टि का प्रवेश होगा, तब देहात की बनी चीजों का अधिकाधिक उपयोग करने की ओर जनता का मन झुकेगा। अपने जीवन की आवश्यक वस्तुएँ देहात में तैयार कराने की ओर उसका झुकाव होगा, इसके फलस्वरूप देहात की कला और औजारों को सुधारने की, देहात के लोगों को सिखाने-पढ़ाने की, देहाती जंगल और खेतों की पैदावार तथा उपयोग करने के ज्ञान के अभाव में देहातों में बेकार चले जानेवाले सम्पत्ति के अनेक प्राकृतिक साधनों की जाँच-पड़ताल करने की प्रवृत्ति पैदा होगी।

——महात्मा गांधी

मूल्य : अढ़ाई रुपया